

समस्या को देखना सीखें

आचार्य महाप्रज्ञ



इस दुनिया में सुख और दुःख का चक्र चलता रहता है।
संभवतः आदमी सुख कम भोगता है, दुःख अधिक।
इसलिए भोगता है कि वह समस्या को देखना नहीं
जानता। यदि समस्या को देखना सीख जाए तो वह
सामने न रहे, पलायन कर जाए। मनुष्य देखना नहीं
जानता, इसलिए समस्या आसन बिछा कर बैठ जाती,
है। तीसरा नेत्र जागृत हो, दुःख अपने आप कम होगा।
दुःख को कम करने का महामंत्र है समस्या को देखना।

समस्या को देखना सीखें

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

समस्या को देखना सीखें

आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक

मुनि दुलहराज मुनि धनंजयकुमार

© आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

स्वर्गीया मातुश्री पतासीबाई कटारिया (धर्मपत्नी श्री मिश्रीलालजी कटारिया)
सोजतरोड (राजस्थान) की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री तरुणकुमार कटारिया
सुपौत्र श्री भीखमचन्द कमलकुमार कटारिया एवं प्रपौत्र सिद्धार्थ कटारिया
धोबीपेठ, चेन्नई (तमिलनाडु) के सौजन्य से प्रकाशित

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक : आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)
मूल्य : साठ रुपये / संस्करण : १९९९ / मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

SAMASYA KO DEKHNA SEEKHEN by Acharya Mahaprajna

Rs. 60.00

प्रस्तुति

विचार और निर्विचार—ये चेतना की दो अवस्थाएं हैं। हर मनुष्य विचार से बंधा हुआ है। जितने मनुष्य, उतने विचार, इस प्रतिपाद्य में कोई असत्य नहीं है। स्वतन्त्रता से जुड़ी हुई है विचार की भिन्नता, इसलिए विचारों को एक करने का प्रयत्न स्वतंत्रता की सीमा में हस्तक्षेप है।

एकता के प्रयत्न का अमोघ सूत्र है निर्विचार होना। जहां विचार निर्विचार में विलीन हो जाते हैं, वहां सत्य समग्र होकर प्रकट होता है। अध्यात्म सत्य की खोज और सत्य की उपलब्धि का राजमार्ग है। प्रस्तुत पुस्तक में अध्यात्म से अभिसिक्त विचार पल्लवित हुए हैं, इसलिए इनमें समन्वय को खोजा जा सकता है, आग्रह को नहीं। अनेकान्त या सापेक्ष एकान्त को खोजा जा सकता है, निरपेक्ष को नहीं। समस्या को देखने की कला है, सापेक्षता का दृष्टिकोण।

इस दुनिया में सुख और दुःख का चक्र चलता है। संभवतः आदमी सुख कम भोगता है, दुःख अधिक। इसलिए भोगता है कि वह समस्या को देखना नहीं जानता। समस्या आसन बिछाकर बैठ जाती है। यदि तीसरा नेत्र जागृत हो, दुःख अपने आप कम होगा। दुःख को कम करने का महामंत्र है समस्या को देखना।

मुनि दुलहराजजी साहित्य-संपादन के कार्य में लगे हुए हैं। वे इस कार्य में दक्ष हैं। प्रस्तुत पुस्तक के संपादन में मुनि घनंजयकुमारजी ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है।

—आचार्य महाप्रज्ञ

अध्यात्म-साधना केन्द्र
छतरपुर रोड, मैहरोली
नई दिल्ली ११० ०३०

१ अगस्त १९९४

संपादकीय

- जीवन और समस्या का संबध
एक शाश्वत सा अनुबंध
यह संभव नहीं कि
जीवन हो और समस्या न हो
यह भी संभव नहीं
समस्या हो और समाधान न हो
कोई भी जीवन समस्या विहीन नहीं है
और समस्या समाधान विहीन नहीं है ।
- व्यक्ति सोचता है—
समस्याएं बहुत हैं पर समाधान कहां है ?
प्रभावी हैं परिस्थितियां, उपादान कहां है ?
- महाप्रज्ञ कहते हैं—
समस्या का समाधान
करता है जो संधान
न अटकता है, न उलझता है
फूलों में, पत्तों में
पहुंचता है गहरे
समस्या की जड़ों में
देखता है स्रोत
मिलता है उसे
अभिनव उद्योत ।
- समस्या यही है—
नहीं जानते देखना
तह तक पहुंचना
यदि पहुंचा जाए अतल तल में
निधान से भरे भूतल में
होगी विस्फारित दृष्टि
देख अभिनव सृष्टि ।

- महाप्रज्ञ का वक्तव्य है—
समस्या आती है जहां से
समाधान भी फूटेगा वहां से
जहां से तूफान आएंगे
लंगर भी वहीं से आएंगे ।
- आज की समाधान दृष्टि
नई समस्या की सृष्टि
महाप्रज्ञ की मार्मिक काव्यात्मक भाषा
इस सच की परिभाषा—
'समस्या के समाधान का
सर्वश्रेष्ठ उपाय
यही है
समस्या की शृंखला में
एक समस्या और जोड़ दो
जनता का ध्यान
पुरानी समस्या से हटा
उस ओर मोड़ दो
जो यथार्थ का प्रतिबिम्ब दे
उस शीशे को तोड़ दो ।'
- महाप्रज्ञ का प्रस्तुत ग्रंथ
'समस्या को देखना सीखें'
देता है समाधान की नई दृष्टि
जिसमें सन्निहित है
शान्ति का दर्शन
सत्य का स्पर्शन
समस्या-ग्रस्त पाठक के लिए
समाधान का स्वर
चिन्तन-मंथन का अवसर
विचार के क्षितिज पर
उग जाता है तेजोमय भास्कर ।

मुनि धनंजयकुमार

अनुक्रम

१. जीवन और दर्शन	१
२. दर्शन और बुद्धिवाद	४
३. बुद्धि और अनुभूति	७
४. समाज-व्यवस्था में दर्शन	१०
५. मुक्ति : समाज के धरातल पर	१४
६. जीवित धर्म : राष्ट्र धर्म	१८
७. हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतिनिधि है, जाति और धर्म नहीं	२०
८. एकता की समस्या	२३
९. अहिंसा की प्रतिकारात्मक शक्ति	२६
१०. अहिंसा की मर्यादा	३०
११. विश्व राज्य या सह-अस्तित्व	३२
१२. विश्व बंधुत्व के सूत्र	३५
१३. एशिया में जनतंत्र का भविष्य	३८
१४. लोकतंत्र और नागरिक अनुशासन	४२
१५. उणु-अस्त्र और मानवीय दृष्टिकोण	४५
१६. युद्ध और अहिंसा	४८
१७. समस्याएं, सरकार, अनशन और आत्मदाह	५३
१८. अहिंसा : शक्ति- संतुलन	५७
१९. अहिंसा के दो स्तर	६०
२०. अभय	६२
२१. जीवन के दो बिन्दु : नीति और अध्यात्म	६५
२२. सामाजिक जीवन का आधार	६७
२३. चिन्तन का क्षितिज	६९
२४. एकता के प्रयत्न	७३
२५. पूज्य दो पूजा का व्यतिक्रम न हो	७७
२६. समीचीन बने धन के प्रति दृष्टिकोण	८०
२७. सापेक्षता के कोण	८३
२८. अध्यात्म की सुई : मानवता का धाम	८७

२९.	समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी	८९
३०.	जीवन की तुला : समता के बटखरे	९३
३१.	करुणा का दोहरा रूप	९७
३२.	धर्म का पहला पाठ	९९
३३.	धर्म की तोता-रटन्त	१०१
३४.	यदि मनुष्य धार्मिक होता	१०४
३५.	स्वस्थ समाज की अपेक्षाएं	१०७
३६.	विशेषणहीन धर्म	११०
३७.	महावीर की वाणी में विश्वधर्म के बीज	११२
३८.	महात्मागांधी की आध्यात्मिकता	१२१
३९.	अध्यात्म का व्यावहारिक मूल्य	१२५
४०.	धर्म की समस्या : धार्मिक का खंडित व्यक्तित्व	१२८
४१.	अशान्ति की समस्या	१३३
४२.	समस्या है बहिरात्मभाव	१३७
४३.	अन्तरात्मा	१४२
४४.	राग और विराग का दर्शन	१४७
४५.	वैज्ञानिक चेतना से नशामुक्ति	१५३
४६.	समस्या यानी सत्य अनभिज्ञता	१५९
४७.	अनुभूति की वेदी पर संयम का प्रतिष्ठान	१६२
४८.	पूँजीवाद और अणुव्रत	१६६
४९.	सभ्यता और शिष्टाचार	१७०
५०.	प्रदर्शन की बीमारी	१७२
५१.	मानव की ग्रन्थियां	१७३
५२.	विस्मृति का वरदान	१७५
५३.	जीवन विकास के सूत्र	१७७
५४.	स्वतंत्रता और आत्मानुशासन	१७९
५५.	व्यवस्था-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन	१८१
५६.	कार्यकर्त्ता की पहचान	१८६
५७.	व्यक्तिवाद और समाजवाद	१९३
५८.	स्वार्थ की मर्यादा	१९५
५९.	विचार-प्रवाह	१९८
६०.	चिरसत्त्यों की अनुस्यूति	२००
६१.	मनुष्य जो भी रहस्य है	२०२

६२.	साधना का अर्थ	२०५
६३.	नैतिक शिक्षा का उद्देश्य	२०७
६४.	कला और कलाकार	२१०
६५.	युवकशक्ति : संगठन	२१२
६६.	पूर्ण और अपूर्ण	२१४
६७.	यंत्रवाद की चुनौती	२१५
६८.	निर्णय	२१६
६९.	संकुलता	२१७

जीवन और दर्शन

जीवन भी सबके पास है और दर्शन भी सबके पास है । संसार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं, जिसके पास जीवन हो और दर्शन न हो । परन्तु जीवन और दर्शन में मेल होना चाहिए । यदि दर्शन जीवन होता है तो दोनों मिलकर एक प्राण बन जाते हैं । प्रश्न होता है—जीवन क्या है ? दर्शन क्या है ? यह सरल भी है और गूढ़ भी है । सभी लोग कहते हैं—सुनकर काम करो, देखकर चलो । देखने का सब जगह महत्त्व है । यदि जीवन न होता तो शायद देखने की आवश्यकता नहीं होती । आदमी जीता है, वही जीवन है । इन्द्रियों और प्राण के संयोग से ही वह बनता है । प्रो० ल्योनिदवासिलियेव ने लिखा—मैंने मस्तिष्क संस्थान के परीक्षणों द्वारा ज्ञात किया कि मनुष्य में अक्षय शक्ति है, अनन्त शक्ति है । उसकी शक्ति विद्युत् तरंगों की तरह नहीं है । सोवियत पत्रों में इसकी काफी चर्चा हुई । जीवन का क्षेत्र बहुत विशाल है । कुछ दिन पहले एक डॉक्टर ने कहा था—आज भी मनुष्य अवधिज्ञानी तथा मनःपर्यायज्ञानी हो सकता है । जीवन की परिधि विशाल होती जा रही है । जीवन आगे बढ़ रहा है ।

दर्शन का अर्थ

हम जो आंखों से देखते हैं, वही दर्शन है । परन्तु सब कुछ सीधा ही सीधा नहीं होता, उल्टा भी होता है । हमारे ऋषियों-मुनियों ने कुछ बातें उल्टी भी कहीं । उन्होंने कहा—हम जो देखते हैं, वह दर्शन नहीं, वह देखना देखना नहीं है । देखने का अर्थ है—आंखें बन्द करके देखना । मनुष्य देखता हुआ भी नहीं देखता । सुनता हुआ भी नहीं सुनता । यह बात बिलकुल उल्टी है । समझ से परे है । आपको कहा जाए कि आंखें मूंदकर देखो, नहीं दिखेगा । हमारी इन्द्रियां इतनी क्षीण होती हैं कि थोड़ा-सा भी व्यवधान आया कि दर्शन रुक जाता है । यदि हम ऊपर चढ़कर देखते हैं तो पहाड़ दिखाई देता है परन्तु नीचे से नहीं दिखाई पड़ता है । कारण स्पष्ट है कि व्यवधान आ गया । दोपहर में दीप जलता है परन्तु उसका प्रकाश नहीं दिखाई देता । अनन्त परमाणु चक्कर लगा रहे हैं पर दिखाई नहीं देते ।

अधूरा दर्शन : पूरा दर्शन

जहां समानाभिहार होता है, वहां आंखों से नहीं देखा जा सकता है । मन धान

में सरसों का एक बीज यदि डाल दिया जाए तो वह होते हुए भी दिखाई नहीं पड़ता। इसीलिए हमारे ऋषियों, मुनियों तथा दार्शनिकों ने कहा—आपका देखना अधूरा है। एक सड़क हमारे सामने है। यदि हम उसे दूर से देखते हैं तो वह केवल पतली-सी काली रेखा के समान ही दिखाई पड़ती है। यह दर्शन है ही नहीं। यह सही है कि दर्शन का अर्थ होता है देखना परन्तु देखना वही है जहां आंखें मूंदकर देखा जाए।

दर्शन का अर्थ है साक्षात्। जो मन को एकाग्र कर देखने का प्रयास करते हैं, वही सही देखना है। जहां दूरी सूक्ष्मता देखने में बाधक नहीं बनती, वही देखना है। भगवान् महावीर ने कहा—जो मनुष्य क्रोध, मान, माया और लोभ पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा को प्राप्त कर लेता है। जब हम अपने आप में देखते हैं तब दर्शन पूर्ण हो जाता है। जहां चित्त को अपने आप में केन्द्रित किया जाता है, वही है दर्शन। शेष सब तर्क का मायाजाल। यह सरल तो बहुत है परन्तु इसे पाने में कठिनाई होती है, पर जिन्होंने थोड़ा प्रयत्न किया, उन्हें मिला भी अवश्य।

निष्पत्ति दर्शन की

एक व्यक्ति सोते के पास खड़ा है। वह देखता है कि एक हिरणी पांव से लंगड़ाती हुई आती है और सोते में पांव कुछ देर तक रखने के बाद पुनः वापस चली जाती है। तीन दिनों तक यही क्रम चलता रहा और चौथे दिन हिरणी बिलकुल स्वस्थ हो गई। उस मनुष्य ने देखने का यत्न किया और उसी से प्राकृतिक चिकित्सा का जन्म हुआ। एक मनुष्य बीमार है। वह देखता है कि बच्चा 'ला-ला' का उच्चारण करत हुआ जोरों से सांस ले रहा है। उसने देखने का प्रयत्न किया, उससे स्वर-चिकित्सा (ट्यूनोपैथी) का जन्म हुआ। जिस किसी ने भी देखने का प्रयत्न किया शायद कभी व्यर्थ नहीं गया। बड़े-बड़े कहानीकार, कलाकार आदि जिन्होंने भी इतनी ख्याति प्राप्त की, उन्होंने एकाग्रता से देखने का प्रयत्न किया था। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का ऐसा सृजन किया है, जिसे पढ़कर जर्मन के कवि गेटे नाच उठा। हमारे यहां रामायण में आता है कि हनुमान ने देखा, सूर्य अस्त हो रहा है, उनके मन में वैराग्य की भावना उमड़ पड़ी। आज जैसा देखना चाहिए, वैसा नहीं देखा जा रहा है। जिसे पीलिया की बीमारी हो जाती है, उसे सब कुछ पीला ही पीला नज़र आता है। आज इस बीमारी को मिटाने की आवश्यकता है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण क्या हो, लोग इसे भूल गए। मेरे विचार से तो नब्बे प्रतिशत लोगों का जीवन के प्रति कोई दृष्टिकोण नहीं है। आप खाते हैं, पीते हैं, श्वास-निःश्वास लेते हैं केवल जीवित रहने के लिए; परन्तु किसलिए जीते हैं, यह नहीं बता सकते। हो सकता है कि मौत नहीं आ रही हो, इसीलिए जीवित रहते हों।

निवृत्ति पलायनवाद नहीं

हमारा जीवन इतना मूल्यवान है कि उसके द्वारा बहुत बड़े-बड़े काम किए जा सकते

हैं। यदि जीवन उद्देश्यपूर्वक होता है तो उसमें गति आती है, बिना उद्देश्य का जीवन लड़खड़ाता रहता है। मनुष्य खा लेता है परन्तु कब खाना चाहिए, क्यों खाना चाहिए, यह नहीं जानता। सांस लेता है परन्तु कैसे लेना चाहिए, यह नहीं जानता। कोई मनुष्य धर्म को माने या नहीं परन्तु अपने अस्तित्व पर तो विचार करना ही चाहिए। एक समझदार व्यक्ति ने कहा—आत्मा पर मेरा विश्वास नहीं। यह भावुकता है, और कुछ नहीं। वास्तव में चंचलता के द्वारा कुछ नहीं हो सकता। जब तक हमारा मन स्थिर नहीं होता तब तक हम कुछ नहीं समझ सकते। हमारा निवृत्ति-धर्म पलायनवाद नहीं। चंचलता में फंसकर लोग सत्य से दूर हो जाते हैं। सत्य के निकट हो सकें, इसी का नाम निवृत्ति है।

दृष्टिकोण स्पष्ट बने

लोग दर्शन को भूलभुलैया मानकर चलते हैं परन्तु ऐसी बात नहीं है। आज दार्शनिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। प्रत्येक काम में दर्शन की आवश्यकता है। जिस प्रकार एक लंगड़ा आदमी लाठी के सहारे चलता है उसी प्रकार यदि हमारे पास दर्शन का अलम्बन हो तो हम सत्य तक अवश्य पहुंच सकते हैं। १. आत्मा है, २. वह अमर है, ३. अपना किया हुआ फल अपने आप भुगतना पड़ेगा—चाहे इहलोक में, चाहे परलोक में; जिसमें इन तीनों तथ्यों के प्रति अटूट विश्वास है, वह मनुष्य बुराइयों से घबराएगा।

एक आदमी गाली देता है। दूसरी ओर सामने वाला देखता है। ऐसा क्यों? उसे भी क्रोध आना चाहिए। उत्तर मिलता है—पीटता तो नहीं। वास्तव में उसका जीवन के प्रति दृष्टिकोण है। जीवन के प्रति मनुष्य का स्थिर और निश्चित दृष्टिकोण होना चाहिए। धार्मिक के लिए तो और भी आवश्यक है। जीवन दर्शन के प्रति और दर्शन जीवन के प्रति सजग होना चाहिए हमें सजगता के साथ समझने तथा देखने का प्रयत्न करना चाहिए।

दर्शन और बुद्धिवाद

जीवन के प्रति हमारा जो दृष्टिकोण है, वह छिछला है और स्थूल है। इसका कारण यही है कि हम दर्शन को उतना महत्त्व नहीं देते, जितना बुद्धि को देते हैं। दर्शन हमारा प्रत्यक्ष है और बुद्धि परोक्ष। दर्शन में कोरी यथार्थता है, सजावट नहीं। बुद्धि में यथार्थता की अपेक्षा सजावट अधिक है। दर्शन का मार्ग ऋजु है, बुद्धि का घुमावदार। मनुष्य बहुत बार सजावट और घुमाव को अधिक पसन्द करता है इसीलिए वह बुद्धिवादी बनना चाहता है, दार्शनिक नहीं। सच तो यह है कि आज का दार्शनिक भी निरा बुद्धिवादी है, जो बुद्धि के सहारे तत्त्वों का विश्लेषण करता है, जगत् के अस्तित्व की व्याख्या करता है, वह दार्शनिक नहीं है किन्तु बुद्धिमान है। दार्शनिक वह होता है, जो अपने दर्शन या प्रत्यक्ष ज्ञान के सहारे तत्त्व-निरूपण करे, विश्व की व्याख्या दे। जो अग्नि को प्रत्यक्ष देखता है, उसके लिए हेतु या तर्क आवश्यक नहीं होता। वह उसी के लिए आवश्यक होता है, जो अग्नि को धुएं के द्वारा जानता है। दार्शनिक के लिए तर्क या बुद्धि का उपयोग नहीं है। वह प्रत्यक्षदर्शी होता है। जो इनका उपयोग करता है, वही सही अर्थ में दार्शनिक नहीं है किन्तु बुद्धिवादी है। आज दर्शन शब्द का अर्थ-परिवर्तन हो गया है। परोक्षदर्शी लोगों ने दर्शन की व्याख्या की, वह बुद्धि के द्वारा की इसलिए दर्शन बुद्धिवाद का माया-जाल बन गया।

दर्शन का आरंभ बिन्दु

क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये चिन्तन के आंतरिक दोष हैं। ये देश, काल और मात्रा भेद के अनुसार बुद्धि द्वारा समर्थित भी हैं। बुद्धि के अस्तित्व का इन जैसा सुदृढ़ स्तम्भ दूसरा कोई नहीं है। क्रोध, अभिमान, माया और लोभ ये क्षीण होते हैं तब दर्शन का प्रारम्भ होता है। तात्पर्य की भाषा में जहां बुद्धि का अन्त होता है, वहां दर्शन का आरम्भ होता है।

बुद्धि भौतिक वस्तु है और दर्शन आध्यात्मिक। जो आत्मा और उसके अनन्य चैतन्य में विश्वास नहीं करता, उसके लिए दर्शन बुद्धि का पर्यायवाची होता है। आत्मवादी के लिए इनमें बहुत बड़ा अंतर है—बुद्धि शांत और ससीम होती है, दर्शन अनन्त और अससीम।

स्व-दर्शन : पर-दर्शन

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि पहले दार्शनिक ज्ञान विकसित हुआ, फिर धर्म की उत्पत्ति हुई। किन्तु मैं ऐसा नहीं मानता। मैं धर्म को दर्शन का साधन मानता हूँ। धर्म से दर्शन की उत्पत्ति होती है किन्तु दर्शन से धर्म की उत्पत्ति नहीं होती। दर्शन हमारी प्रत्यक्ष चेतना का विकास है और धर्म उसका साधन। जब तक हमारा दर्शन अपूर्ण होता है तब तक हमारे लिए दर्शन और धर्म भिन्न होते हैं। जब हम पूर्ण द्रष्टा बन जाते हैं तब हमारा धर्म हमारे दर्शन में विलीन हो जाता है; वहाँ साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है। साधना-काल में जो साधन होता है, वह सिद्धि-काल में स्वभाव बन जाता है। दर्शन की साधना करते समय धर्म हमारा साधन होता है और उसकी सिद्धि होने पर धर्म हमारा स्वभाव बन जाता है—हमसे अभिन्न हो जाता है। जिस दर्शन की मैंने चर्चा की है, उसे स्व-दर्शन या आत्म-दर्शन कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त जैन, बौद्ध और वैदिक आदि जितने दर्शन हैं, वे सब पर-दर्शन हैं अर्थात् बुद्धि द्वारा गृहीत दर्शन हैं। जो दर्शन धर्म द्वारा प्राप्त होता है वह स्व-दर्शन होता है और जो बुद्धि द्वारा प्राप्त होता है, वह पर-दर्शन होता है। स्व-दर्शन से आत्मा प्रकाशित होती है और पर-दर्शन से परम्परा का विकास होता है।

आत्मा का स्पर्श करती हुई हमारी जो आस्था है, ज्ञान और तन्मयता है, वही धर्म है। इसी धर्म की आराधना से दर्शन का उदय होता है। जो लोग इस आत्म-दर्शन का स्पर्श नहीं करते उनमें बौद्धिक विकास प्रचुर हो सकता है पर दर्शन का उदय नहीं होता।

बुद्धिवाद की समस्या

दर्शन प्रत्यक्ष होता है, आभास से मुक्त होता है। बुद्धि में आभास होता है, संशय भी होता है और विपर्यय भी होता है। बुद्धि हमारा अत्यन्त समाधायक साधन नहीं है, वह कामचलाऊ अस्त्र है। उसके निष्कर्ष अनेक द्वारों से निकलते हैं। न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की स्थापना की। आइंस्टीन ने सापेक्षवाद की स्थापना कर उसकी व्याख्या में परिवर्तन ला दिया। फिर भी आइंस्टीन के गुरुत्वाकर्षण सम्बन्धी नियमों का प्रयोग जब नक्षत्रीय समस्याओं के समाधान के लिए किया जाता है, तब ठीक वही परिणाम निकलते हैं, जो न्यूटन के नियमों के प्रयोग से निकलते हैं।

भू-भ्रमण के बारे में अनेक मत हैं। बुद्धि के द्वारा उन्हें कोई निश्चित रूप नहीं दिया जा सका। बुद्धिवाद अपने युग में नया रूप लाता है और चमत्कार उत्पन्न करता है। चिरकाल के बाद वह बूढ़े आदमी की तरह जीर्ण हो जाता है। कोपरनिकस का भू-भाग का सिद्धांत एक दिन बहुमूल्य था किन्तु सापेक्षवाद की स्थापना के बाद अल्पमूल्य हो गया। लियोपोल्ड इन्फेल्ड के शब्दों में— 'कोपरनिकस और टॉलमी के सिद्धांत के विषय

में निर्णय करना अब निरर्थक है। वास्तव में दोनों के सिद्धांतों की विशेषता का अब कोई महत्त्व नहीं। पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर है या पृथ्वी स्थिर है और सूर्य घूमता है— इन दोनों का कोई अर्थ नहीं है। कोपरनिकस की महान् खोज आज केवल इतने ही वक्तव्य में समाने जितनी रह गई है कि कुछेक प्रसंगों में नक्षत्रों की गति का सम्बन्ध सूर्य के साथ जोड़ने की अपेक्षा पृथ्वी के साथ जोड़ना अधिक सुविधाजनक है।'

बुद्धिवाद की अपूर्णता

मतानैक्य और उत्तरवर्ती सिद्धान्त के द्वारा पूर्ववर्ती सिद्धान्त का निरसन— ये दोनों बुद्धिवाद की सहज अपूर्णताएं हैं। दर्शन वही है जहां मतैक्य हो. उत्तर के द्वारा पूर्व का समर्थन हो।

बुद्धिवाद अपूर्ण इसलिए होता है कि वह परोक्ष है। दर्शन प्रत्यक्ष होता है इसलिए वह पूर्ण है। बुद्धिवाद की उत्पत्ति इन्द्रिय और मन के जगत् में होती है, जो स्वयं चैतन्यमय नहीं है बल्कि चैतन्य के वाहक हैं। दर्शन की उत्पत्ति आत्मिक जगत् में होती है, जो स्वयं चैतन्यमय है।

बुद्धि और अनुभूति

आधुनिक युग वैज्ञानिक एवं बौद्धिक युग है। जो भी कहा जाता है, उसे बुद्धि से परखा जाता है और तर्क की कसौटी पर कसा जाता है लेकिन बुद्धि खतरा है।

दो खतरे

दुनिया में दो खतरे हैं— शस्त्र और शास्त्र। इस दुनिया में मनुष्य ने जब से शस्त्र का आविष्कार किया है तभी से वह भयभीत है। जैसे-जैसे शस्त्रों का विकास हुआ है मनुष्य का भय भी बढ़ा है। अणुशस्त्र वालों को जाने कब कुबुद्धि आ जाए और कब प्रलय हो जाए। मनुष्य भय से त्रस्त है, अरक्षित है कि जाने कब क्या हो जाए।

दूसरा खतरा है शास्त्र। शास्त्र में केवल एक मात्रा का ही फर्क है। “शासनात् त्राणशक्तेश्च शास्त्रमित्युच्यते बुधैः।” शास्त्र के दो लाभ बताये जाते हैं कि एक तो वह अनुशासन करता है और दूसरा लाभ यह है कि वह त्राण देता है, रक्षा करता है। शस्त्र भी त्राण देने के लिए ही बनाए गये थे। हमारी बौद्धिकता शास्त्र और शस्त्र—दोनों में है; क्योंकि बौद्धिकता के बिना शस्त्र का भी विकास नहीं होता है। जैसे-जैसे मनुष्य में बुद्धि का विकास होता गया है वैसे-वैसे शस्त्रों का भी विकास हुआ है। डेकन कालेज, पूना के पुरातत्त्व विभाग में पत्थर के शस्त्रों का इक्कीस लाख वर्ष पुराना इतिहास देखा और आधुनिक युग के उद्‌जन बमों के बारे में भी पढ़ा-सुना है। शस्त्रों का यह विकास बुद्धि के विकास के साथ-साथ हुआ है।

खतरा है बुद्धि

बुद्धि बहुत बड़ा खतरा है। पांडित्य और बौद्धिकता का खतरा साक्षात् एवं प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। शस्त्र का खतरा दिखाई देता है, शास्त्र का नहीं। इसीलिए शंकराचार्य ने कहा था कि ‘अन्य वासनाओं के खतरे से बचना आसान है किन्तु शास्त्र-वासना से मुक्त होना सम्भव नहीं।’ धर्म का तेज कम होने का मुख्य कारण है—बुद्धि का आग्रह। शब्दों की पकड़ भारी होती है। अनेक व्यक्ति शब्द की भावना या हार्द को नहीं समझते—उसकी आत्मा को नहीं पकड़ पाते। केवल शब्दों की छीछालेदर करने वाले आत्मा तक कभी नहीं पहुँचे, स्थूल में ही लगे रहे।

चार पंडित काशी से बारह वर्ष पढ़कर आए किन्तु केवल शब्द रटे, हृदय तक

नहीं पहुँच पाए। नदी के पार ऊंट को तेजी से दौड़ा देखकर एक ने सोचा—‘धर्म की गति तीव्र कही गई है अतः यह दौड़ने वाला ही धर्म है।’ दूसरे पंडित ने श्मशान पर गधे को खड़ा देखकर श्लोक याद करते हुए सोचा—‘राजद्वार और श्मशान पर मिलने वाले को अपना इष्ट मानना चाहिए अतः यह गधा हमारा भाई है।’ तीसरे ने गधे और ऊंट को एक साथ इसलिए बांध दिया कि इष्ट को धर्म के साथ जोड़ देना चाहिए और चौथे ने नदी पार करते समय अपने पंडित मित्रों को डूबते देखकर तलवार से उनका सिर काट लिया, क्योंकि सम्पूर्ण नष्ट होने में से आधा बचा लेना बुद्धिमानी है।

इन चारों मूर्खों ने शास्त्र का कहीं उल्लंघन नहीं किया। शास्त्र के शब्दों और श्लोकों का आधार लिया। आज भी धर्म के समबन्ध में पंडित लोग शास्त्रों का प्रमाण देते हैं। विधि-निषेध और शास्त्रों का विधान बताकर छुआछूत, शूद्र के वेद सुनने पर कान में पिघलता शीशा डाल देना आदि का औचित्य सिद्ध करते हैं। यदि आत्मानुभूति का असंग होता तो शास्त्रों की दुहाई नहीं चलती। धर्म अपने अनुभव के आधार पर कहा जाता है। अहिंसा अच्छी है किन्तु क्या महावीर, गौतम और कृष्ण के कहने से ही? तुम स्वयं अपनी आत्मा से पूछो। अपना सही विश्वास अहिंसा पर करो, जीवन में उतारो और फिर अनुभव से कहो कि अहिंसा सचमुच अच्छी है।

वह दार्शनिक है

शास्त्र की वाणी दोहराई जाती है परन्तु आत्मानुभव दोहराया नहीं जाता। बुद्धि का पृष्ठ जहां समाप्त होता है, धर्म वहीं से प्रारम्भ होता है। इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समाप्ति ही धर्म का प्रारम्भ है। आज हमारा धर्म बौद्धिक बनकर रह गया है, निरा बौद्धिक व्यायाम हो गया है। भारतीय ग्रन्थों को पढ़कर लगता है कि वे दर्शन नहीं, बौद्धिक ग्रंथ हैं। पिछले लगभग एक हजार वर्षों के सभी ग्रंथों में बौद्धिक युग है। विगत लगभग बारह सौ वर्षों का युग नैयायिक एवं तार्किक युग है। दार्शनिक ग्रंथ द्रष्टा के द्वारा लिखे जाते हैं, लिखने वाला आत्मद्रष्टा होता है। ‘दर्शनाद् ऋषि’ जो देखता नहीं, वह दर्शनकार नहीं हो सकता। आज का दार्शनिक केवल ज्ञानी और बौद्धिक है, दार्शनिक नहीं। जब हम अपनी इन्द्रियों और मन को वश में करके आत्मानुभूति की गहराई तक जाते हैं तो दर्शन प्राप्त होता है। जो ध्यान नहीं करता, निदिध्यासन नहीं करता, वह दार्शनिक नहीं हो सकता।

समाधान है आत्मानुभूति।

धर्म की समस्या नहीं सुलझने का कारण आत्मानुभूत धर्म का अभाव। इस समस्या का कारण है कोरा बौद्धिकता का धर्म। बुद्धि का काम है स्पर्धा पैदा करना और जहां स्पर्धा है वहां समस्या है। सभी वर्गों में यह समस्या अर्थ, पद आदि के लिए देखी जाती है और इसीलिए वहां समस्याएं भी उभरती हैं।

डिग्री, अर्थ आदि का भेद बुद्धि करती है इसलिए ज्ञान से लोग घबराते हैं। बुद्धि और ज्ञान को दुःख का कारण समझने लगे, किन्तु सच्चा ज्ञान दुःख का कारण नहीं, सुख का हेतु है। ज्ञान के दो साधन प्रचलित हैं—सुनना और पढ़ना। ये दोनों ही साधन परिस्थिति से प्रभावित होते हैं और बाहर से ओढ़े हुए होते हैं। बाहर से आया हुआ कर्ज है, ऋण है। इसीलिए यह बाहरी ज्ञान बुद्धि को पराभूत एवं विचारों को विश्रुंखल करता है। ज्ञान वह है, जो आत्मा से फूटे और उसकी रश्मियां बाहर को आलोकित करें। ज्ञान के सम्बन्ध में बौद्धिकता के द्वारा ही भ्रांति आयी है। बुद्धि लड़ाई का कारण बनी। जितने वकील हैं वे लड़ाना जानते हैं, लड़ाते हैं। यह जरूर है कि बुद्धि ने लड़ाना भी सभ्यता से सिखाया है। आज सारी दुनिया शीत-युद्ध से घबराती है, आक्रान्त है। घाव पर मुलम्मा चढ़ा दिया गया किन्तु वह भीतर ही भीतर कैंसर का रूप ग्रहण कर रहा है। इस बुद्धिवाद से जो कठिनाइयां पैदा हो रही हैं, उनका समाधान आत्मानुभूति से ही प्राप्त हो सकेगा। इसके लिए धर्म और अध्यात्म को जानना होगा। धर्म बाहर की समस्याओं का भी अन्तर से ही समाधान देता है।

वर्णमाला का पहला अक्षर

अपनी आत्मानुभूति के तार को दूसरे की आत्मानुभूति के तार से जोड़ना ही धर्म है। प्राणीमात्र के प्रति तीव्र अनुभूति और एकता की अनुभूति ही धर्म है। बाहर में धर्म नहीं है। धर्म भीतर अनुभूति की गहराई तक पहुंचकर बुद्धि के द्वारा प्रस्तुत कठिनाइयों से बचाता है। हमें जागने की जरूरत है। ऋषियों ने कहा—“उतिष्ठत जागृत—उठो, जागो।” जागते ही तभी जीवन है।

भिक्षु स्वामी के सामने सामायिक करते हुए श्रावक आसोजी नींद ले रहे थे। भिक्षु स्वामी ने पूछा—“आसोजी ! नींद ले रहे हो ?”

“नहीं, महाराज !” आसोजी ने सचेत होते हुए झूठा जवाब दिया। थोड़ी देर में फिर नींद लेने लगे तो भिक्षु स्वामी ने टेका—“आसोजी ! नींद ले रहे हो ?” इस बार भी उन्होंने ना कर दी। तीसरी बार नींद लेने पर भिक्षु स्वामी ने पूछा—“आसोजी ! जी रहे हो ?”

उन्होंने उसी प्रकार नकारात्मक जवाब दिया—“नहीं, महाराज !” सब हँस पड़े और आसोजी लज्जित हो गये।

सचमुच नींद लेने वाला जीता नहीं। जीता वह है, जो जागता है। जागरण आत्मानुभूति का फल है। इन्द्रियां, मन और बुद्धि का द्वार बन्द कर भीतर जाने का फल है धर्म और जीवन। अपने अन्दर में जाने का प्रारम्भ अध्यात्म की वर्णमाला का प्रथम अक्षर है। इसके अभाव में अध्यात्म की पुस्तक का प्रथम पृष्ठ ही अधूरा है।

समाज-व्यवस्था में दर्शन

समाज, व्यवस्था और दर्शन तीनों जटिल और कुटिल शब्द हैं। आदि में समाज है, अन्त में दर्शन और बीच में व्यवस्था बैठी है। व्यक्ति आज भी जितना व्यक्ति है, उतना सामाजिक नहीं है। व्यवस्था स्वयं में सहज नहीं है। दर्शन परीक्षा की साक्षात् अनुभूति के लिए व्यवहृत होता है।

जैन आगमों की भाषा में समाज कल्पना है। व्यक्ति अकेला आता है और अकेला ही जाता है। अनुभूति भी अपनी अपनी होती है। एक की अनुभूति दूसरे की नहीं होती। विज्ञान भी अकेले को होता है। सत्य व्यक्ति है, समाज नहीं।

उपनिषद् में कहा है—‘द्वितीयाद् वै भयम् ।’ अकेला अभय था, दूसरा आया कि भय हो गया। ‘मर्त्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति’—नानात्व को देखने वाला मृत्यु को प्राप्त होता है।

वास्तविक सत्य है व्यक्ति

सचाई भी यही है। समाज कल्पना-प्रसूत सत्य है, वास्तविक सत्य है व्यक्ति। आदि से आज तक समाजशास्त्रियों ने सामाजिकता की गाथाएं गायी हैं पर उनके संस्कार आज भी अपरिपक्व हैं, जितने वैयक्तिक हैं उतने सामाजिक नहीं हैं। जहां समाजवाद हो वहां भी थोड़ा-सा नियंत्रण शिथिल होते ही वैयक्तिक भाव पनप उठते हैं। व्यवस्था की दशा लगभग ऐसी है। प्रत्येक पदार्थ में अवस्था होती है। जैन दर्शन की भाषा में उसे पर्याय कहते हैं। वह अचेतन में भी होती है, चेतन में भी होती है। वह बद्धजीव में भी होती है और मुक्त में भी होती है। व्यवस्था वैभाविक पर्याय है, सहज नहीं। वह करनी होती है। सापेक्षता की ओर झुकाव होता है, तब व्यवस्था आती है। समाज माना हुआ सत्य है, पर सम्मत सत्य को एकान्त असत्य नहीं कहा जा सकता।

एकोहम् बहु स्याम्

चिन्तन का प्रवाह कालचक्र की तरह उत्सर्पण और अवसर्पण करता है। एक दिन व्यक्ति व्यक्ति था, अवस्था अवस्था थी और दर्शन दर्शन था। उपनिषद् की भाषा में—‘स एको नैव रेमे’—वह अकेले में संतुष्ट नहीं हुआ। उसने सोचा—‘बहु स्याम्’, वह

बहुत हो गया। मनुष्य कभी जंगल में रहता था। उस स्थिति से ऊबकर वह गांव में आया। अब वह गांव में भी जंगल ला रहा है। नई दिल्ली में मैंने देखा—एक कोठी जंगल से घिरी है, मनुष्य की जो चिरपरिचित आदत है, अभी नहीं छूटी है, इसीलिए वह गांव में भी जंगल ला रहा है।

एक समय लोग दाढ़ी और मूंछ रखते थे। बीच में सफाई का युग आया और अब पुनः दाढ़ी-मूंछ का युग आ रहा है। यह आवर्तन और प्रत्यावर्तन होता ही रहता है।

समाज बनता है सापेक्षता से

सापेक्षता से ही समाज बनता है। समज और समाज में यही तो भेद है। पशुओं का समूह समज कहलाता है और समाज उन मनुष्यों का समूह होता है, जिनमें सापेक्षता होती है। समाज हो और सापेक्षता न हो, वह समाज नहीं, अस्थि-संघात मात्र है। समाज का आधार है परस्परबलम्बन, परस्पर-सहयोग। समाज में व्यवस्था का जन्म होता है। व्यवस्था भली-भांति चले इसलिए शासन आता है। सापेक्षता, व्यवस्था और शासन—ये तीन व्यवस्थाएं जहां हों, वहां दस आदमी मिलने पर भी समाज बन जाता है, अन्यथा लाख आदमी होने पर भी समाज नहीं बनता।

दर्शन शब्द का अर्थ-विस्तार हुआ है। एक समय आत्मोपलब्धि और सत्य के साक्षात्कार को दर्शन कहा जाता था। द्रष्टा की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए दर्शन शब्द व्यवहृत होता था पर आज परोक्षानुभूति में भी वह व्यवहृत होने लगा है।

निरपेक्षता के परिणाम

व्यक्ति सामाजिक होने पर भी व्यक्ति ही है, इसलिए वह समाज में रहते हुए भी निरपेक्षता चाहता है और शासनहीन राज्य की कल्पना करता है, यह अस्वाभाविक भी नहीं है। निरपेक्षता से मुक्त सापेक्षता और सापेक्षता से मुक्त निरपेक्षता हो ही नहीं सकती। जो कोई भी सत् है, वह सत्-प्रतिपक्ष है। प्रकाश और अन्धकार, न्याय और अन्याय, आरोग्य और रोग, ये सब सत्-प्रतिपक्ष हैं। अकेला शब्द शून्य होता है। सामाजिक प्राणी सर्वथा निरपेक्ष हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। यह भी असम्भव है कि व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व हो और वह सर्वथा सापेक्ष ही हो। निरपेक्षता को न जानने वाला शान्ति का मर्म जान ही नहीं पाता। अहिंसा, अपरिग्रह और सचाई—ये सब निरपेक्षता के ही परिणाम हैं।

एक दल या सम्प्रदाय के लोग साथ रहते हैं। वे सापेक्ष ही हों और निरपेक्ष न हों तो कलह हो जाता है। एक बड़े परिवार वाले व्यक्ति से मैंने पूछा—आपका परिवार इतना बड़ा है, कैसे एक साथ रह रहे हैं? उसने उत्तर दिया—बहुत कुछ सहा है, अन्यथा

कभी से अलग-अलग चूल्हे जल जाते। सन्तुलन के लिए सापेक्ष के साथ निरपेक्ष भाव हो—यही दर्शन की देन है।

व्यवस्था : अव्यवस्था

व्यवस्था समाज के लिए आवश्यक है, वैसे अव्यवस्था भी। गति और प्रगति के लिए अव्यवस्था आवश्यक है। स्कन्ध भी संघात और भेद से बनता है, केवल संघात ही हो तो सारा विश्व पिण्ड बन जाए। हाथ की पांचों अंगुलियों का पिण्ड एक हो जाय तो उनकी कोई उपयोगिता नहीं रह सकती। भिन्नता में ही उनकी उपयोगिता है। कोरे भेद से भी काम नहीं चलता। अणु-अणु बिखर जाए तो जीवन दूभर बन जाए। संघात और भेद से स्कन्ध बनता है, वही हमारे लिए उपयोगी होता है। अव्यवस्था का अर्थ है—अवस्था। कोरी व्यवस्था से समाज जड़ बन जाता है, क्योंकि व्यवस्था कृत है, नैसर्गिक नहीं। नैसर्गिकता स्वयं अवस्था बन जाए तब व्यवस्था की आवश्यकता ही न रहे।

शासन मुक्त समाज की अपेक्षाएं

शासन-प्रणाली भी आयी है। समाज ने उसे आवश्यक माना और वह आ गई। एक समय मनुष्य ने शासन की कल्पना की, राज्य बन गया, शासक बन गए। मार्क्स की अन्तिम कल्पना है—शासन-मुक्त राज्य हो। यह कल्पना मार्क्स की नयी नहीं है। जैन आगमों में 'अहं इन्द्र' का उल्लेख है। वहां सब इन्द्र हैं, कोई सेवक या पदाति नहीं। प्रेष्य और प्रेषक भाव भी नहीं है। वह शासनमुक्त समाज का चित्र है। किन्तु वे 'अहं इन्द्र' इसलिए हैं कि उनके क्रोध, मान, माया और लोभ क्षीण हैं, स्वभाव से वे सन्तुष्ट हैं। शासनमुक्त राज्य के लिए ये अनिवार्य अपेक्षाएं हैं।

चाह स्वतंत्रता की

स्वाधीनता दर्शन की बहुत बड़ी देन है। सब लोग विचारों की स्वतन्त्रता चाहते हैं, लेखन और वाणी की स्वतन्त्रता चाहते हैं। स्वतन्त्रता का घोष प्रबल है। कोई पराधीनता नहीं चाहता। राजा शब्द इतिहास और शब्दकोश का विषय बन गया है, वैसे ही नौकर शब्द भी अतीत की वस्तु बनता जा रहा है। इसका अर्थ है कि निरपेक्षता आ रही है। सापेक्ष की कड़ी टूटने पर कोई बड़ी हानि नहीं, व्यवस्था न रहे तो कोई दोष नहीं; शासन न रहे तो कोई आपत्ति नहीं; यदि स्व-शासन आ जाए। स्व-शासक न शासन से शासित होता है और न शासन से मुक्त। 'कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के'—कुशल वह है जो न बद्ध होता है और न मुक्त। एक ही व्यक्ति जो न बंधा हुआ हो और न मुक्त हो, यह कैसे हो सकता है? शासन छोड़ा नहीं जा सकता। शासन नहीं, वहां ऋण नहीं। कोई भी अत्राण रहना नहीं चाहता—इसलिए आत्मानुशासन आता है। कुशल इसलिए है कि वह परशासन से बद्ध नहीं है और आत्मानुशासन से मुक्त नहीं है।

व्यक्तिवादी मनोवृत्ति

आत्मानुशासन के मनोभाव को विकसित करना आवश्यक है। कहीं भी देखा जाए, ईर्ष्या है, स्पर्धा है, एक-दूसरे को नीचे गिराने का भाव है और असहनशीलता है। समाज में जहां सापेक्षता है, वहां ऐसा क्यों होता है, आज भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है।

साम्यवादी शासनमुक्त समाज की कल्पना लेकर चलते हैं। वहां क्या होता है? अपनी सुरक्षा और अपने प्रतिस्पर्धी का पतन। एक ओर शासन मुक्ति की कल्पना, दूसरी ओर इतना स्वार्थ-संचर्ष, यह दर्शन की दूरी नहीं तो और क्या है?

व्यक्ति ने मान लिया, उत्कर्ष हो तो मेरा हो। मुख्य या शक्तिशाली मैं ही बनूं। यह व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ही सामाजिकता को वास्तविकता नहीं बनने देती; किन्तु आत्मानुशासन का विकास होने पर व्यक्ति व्यक्ति रहकर भी असामाजिक नहीं रहता।

समुद्र है व्यक्ति

व्यक्ति में जो स्व की सीमा है, उसे न समझकर वह अपने में पर का आरोप कर लेता है। संक्रान्ति वेला में प्रत्येक वस्तु छोटी दीखती है। विशाल वस्तु भी दर्पण में समा जाती है। व्यक्ति भी सोचता है, सारी सृष्टि मुझमें समाहित हो जाए, पर ऐसा सोचनेवाला सत्य के निकट नहीं पहुंच पाता है।

व्यक्ति समुद्र है। राग-द्वेष की उर्मियां उसमें कल्लोलें कर रही हैं। वहां सत्य-दर्शन नहीं होता। उन उर्मियों से ऊपर आनेवाले की ही दृष्टि स्पष्ट हो सकती है, भीतर रहनेवाले की नहीं।

समाजवादी प्रणाली में भी सत्ता कुछेक व्यक्तियों में केन्द्रित हो गई है। जनता अपने को असहाय-सी अनुभव करती है। अपना व्रत लेकर चलनेवाले कभी अत्राण नहीं होते।

शस्त्र शब्द में त्राण शक्ति की कल्पना है पर वह वास्तविक नहीं। भीषण आयुध रखनेवाले भी संत्रस्त हैं।

स्व शासन आए

दशार्णभद्र अपना ठाट-बाट लेकर भगवान महावीर के दर्शन के लिए चला। इन्द्र ने सेना की रचना की। राजा पराजित हो गया, त्राण अत्राण की अनुभूति करने लगा क्योंकि वह पर की सीमा में चला गया था। अंत में वह भगवान की शरण में आया और विजयी बन गया। अब इन्द्र पैरों में आ लुटा।

जो पर-शासन में पराजित हो गया, वह स्व-शासन में आ विजयी बन गया। समाज में रहनेवाले स्व की सीमा में चले। इस स्व-शासन का विकास होने पर समाज में व्यवस्था नहीं होगी किन्तु एक विशेष अवस्था होगी। नियम कृत्रिम नहीं होगा, किन्तु सहज होगा। प्रेरणा का मूल भय नहीं होगा किन्तु कर्तव्यनिष्ठा होगी।

मुक्ति : समाज के धरातल पर

दर्शन के विषय में हमारी कुछ धारणाएँ हैं और हम मानते हैं कि वह विषय केवल कुछ लोगों के काम का है, जन-साधारण के काम का नहीं। सच तो यह है कि दर्शन के बिना हमारे जीवन का कोई भी काम नहीं चल सकता। चलने से पूर्व देखा जाता है, फिर चलते हैं। बड़े शहरों में तो इतनी कठिनाई है कि देखे बिना चला जाए तो दुर्घटना घटित हो सकती है। इसलिए पहले दर्शन और फिर चलना होता है।

तर्कशास्त्र और दर्शन

हमने तर्कशास्त्र और दर्शन को एक ही मान लिया, किन्तु दोनों एक नहीं हैं। दोनों में बहुत अन्तर है। तर्कशास्त्र परोक्ष की पद्धति है। जो हमारे प्रत्यक्ष नहीं होता, उसे किसी हेतु से जानना तर्क है, किन्तु दर्शन में प्रत्यक्षानुभूति वाले लोग नहीं हैं, क्योंकि दर्शन पढ़ने से नहीं, साधना से प्राप्त होता है। तर्कशास्त्र पढ़ने से प्राप्त हो जाता है। परोक्षानुभूति बुद्धि का विषय है। दर्शन बुद्धि से अतीत है जो चित्त को निर्मल, केन्द्रीभूत एवं पवित्र करने में निहित है। दर्शन हमारे लिए आवश्यक है।

तर्कशास्त्र में कहा गया है—“प्रत्यक्षं ज्येष्ठं प्रमाणम्।” जो प्रत्यक्ष है वह सबसे बड़ा प्रमाण है। परोक्ष गौण है। इसलिए सब इन्द्रियों में आंख को ज्यादा महत्त्व देते हैं।

प्रश्न है विचार के स्रोत का

भारत की तीन मुख्य दार्शनिक धाराएँ रही हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। इनके अतिरिक्त छोटे-छोटे प्रवाह तो अनेक रहे हैं। इन तीन मुख्य धाराओं में अनेक बातें समान दिखाई देती हैं—महाव्रत, योग, साधना, ध्यान, तपस्या, मैत्री, प्रेम सब में आ गया है किन्तु दर्शन के इतिहास को जानने और पढ़ने वाला इन तीनों को एक नहीं मानता। वह जानता है कि कौन विचार कहां जन्मा, कहां पनपा और कहां विकसित हुआ? एक विचार कहीं पनपता है, कहीं विकसित होता है और प्रभावशाली होने से उसे दूसरे भी स्वीकार कर लेते हैं। सामान्य लोग मानते हैं कि सब विचार ऐसे ही एक रूप में सब धर्मों में चलते रहे हैं।

संदर्भ मुक्ति का

भगवान् पार्श्वनाथ को लें तो २८०० वर्ष के लगभग और भगवान् महावीर से चलें तो २५०० वर्ष का जैन इतिहास होता है। उससे पहले का इतिहास रुकता है। जैन-दर्शन का भारतीय दर्शन के विकास में क्या योग है इस पर चिन्तन करें।

वेदों में निर्वाण—मोक्ष की बात नहीं मिलेगी। वहां केवल काम, अर्थ और धर्म—इस त्रिवर्ग की बात आती है। काम और अर्थ के बाद जो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है वह समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध में प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति आदि में इसका इसी रूप में उल्लेख है। धर्माध्यक्ष, धर्मालय, धर्माधिराज आदि शब्दों का अनेक स्थानों पर व्यवस्था के लिए प्रयोग हुआ है। महाभारत के अन्त में स्वयं व्यासजी कहते हैं—“मैं हाथ ऊंचा उठाकर कह रहा हूँ कि धर्म से अर्थ और काम मिलता है, फिर भी लोग धर्म नहीं करते हैं।” क्या धर्म से अर्थ और काम मिलेगा? धर्म से मोक्ष मिल सकता है, अर्थ और काम नहीं मिल सकते। यह धर्म की विसंगति है और आज भी ऐसी ही विसंगति चल रही है कि धर्म से लोग पुत्र, धन आदि पाना चाहते हैं। मोक्ष-धर्म और व्यवस्था-धर्म के सम्मिश्रण से लोग उलझ गए। कल्पद्रुम के रूप में धर्म का विवेचन करते हुए कहा गया है—“राज्य, सुन्दर स्त्री, सुन्दर लड़के, रूप, सरस कविता, स्वास्थ्य, कला, वाक्चातुर्य आदि सब कुछ धर्म से मिलेगा।” यही कारण है कि धर्म त्रिवर्ग में भी आया और पुरुषार्थ चतुष्टयी में भी आ गया है। दोनों को मिलाने से अनिष्ट हो गया। लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य में लोक-धर्म और मोक्ष-धर्म का सुन्दर विवेचन किया है। आचार्य भिक्षु और तिलक के विचारों में अद्भुत सामंजस्य है।

धर्म आत्मशुद्धि के लिए

जब निर्वाण की बात आयी तो धर्म का अर्थ-परिवर्तन हुआ। इसके पहले वैदिक चिन्तन में स्वर्ग की धारा थी। निर्वाण का सिद्धांत शक्तिशाली हुआ तब स्वर्गवादी धारा के साथ भी निर्वाण की धारा जुड़ गई। सूत्रकृतांग में महावीर की स्तुति में कहा गया है—‘निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र सर्वश्रेष्ठ हैं।’ इसका मतलब है कि वे स्वर्गवादी धारा में श्रेष्ठ नहीं थे। इसका अर्थ हुआ—उस समय प्रवृत्ति और निवृत्ति दो धाराएं थीं। स्वर्गवादी धारा में पुण्य का बहुत महत्त्व था। निर्वाणवादी धारा में स्वर्ग और पुण्य दोनों को ज़्यादा महत्त्व नहीं दिया गया। निर्वाणवाद में साफ कहा है—‘पुण्य, कीर्ति, पूजा, श्लाघा, प्रतिष्ठा, स्वर्ग आदि के लिए धर्म मत करो। आत्मशुद्धि और निर्वाण के लिए धर्म करो, क्योंकि पुण्य भी बन्धन है।’

अहिंसा का मूल्य

इस निर्वाणधारा ने मुक्ति का स्वर प्रबल किया। वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में प्रचलित हो गया। अहिंसा का विकास मुक्ति के लक्ष्य से हुआ है। यदि मुक्ति का लक्ष्य

नहीं होगा तो अहिंसा का मूल्य होगा केवल उपयोगिता । जहां बन्धन काटने का सवाल है वहां अहिंसा का स्वतन्त्र मूल्य है । समाज की उपयोगिता के साथ अहिंसा को जोड़ा जाता है तो उसका मूल्य सीमित हो जाता है ।

मुमुक्षा का मूल स्रोत

अपरिग्रह और सत्य का विकास अहिंसा के आधार पर हुआ है । मुक्ति के सिद्धान्त से समाज में स्वतन्त्रता का विकास हुआ । भगवान् ने कहा—'किसी को दास मत बनाओ, किसी पर हकूमत मत करो ।' उन्होंने मुक्ति की दृष्टि से विचार किया तो लगा कि मुमुक्षा की भावना प्राणी की मौलिक मनोवृत्ति है, जिसे कभी ध्वस्त नहीं किया जा सकता है । इस मुमुक्षा का मूल स्रोत है, शरीर से भी मुक्त होना । शरीर से भिन्न आत्मा को मानने की कल्पना और मुक्ति की कल्पना से सामाजिक मूल्यों में बहुत बड़ा परिवर्तन आया है ।

परिवर्तन का हेतु

जहां दार्शनिक मान्यता नहीं होती है, वहां परिवर्तन नहीं होता है । राजनीति में भी जो परिवर्तन होता है, उसके पीछे दर्शन है । मार्क्सवाद, गांधीवाद आदि दर्शन के आधार पर ही बनते हैं । आज भी ऐसे बहुत से राजनैतिक दल हैं, जिनके पीछे दर्शन नहीं है फलतः वे चल नहीं पाते, विकास नहीं होता । सामाजिक मूल्यों में स्वतन्त्रता का विकास मुक्ति के दर्शन से आया । मुक्ति के आधार पर और भी परिवर्तन आया । व्यक्ति सामाजिक, पारिवारिक क्षेत्र में होते हुए राजनैतिक स्तर पर आया है । निर्वाण का स्वर इतना प्रभावशाली रहा है कि उसके सामने स्वर्ग यानी बन्धन का स्वर क्षीण हो गया ।

विंटरनीत्ज़ का मत

उपनिषदों के साथ पार्श्वनाथ का युग था । कुछ लोग उपनिषदों को वैदिक धारा का साहित्य मानते हैं किन्तु डा० विंटरनीत्ज़ ने सिद्ध किया है कि यह कोई एक धारा की सम्पत्ति नहीं किन्तु विभिन्न धाराओं का अनुदान है । उस समय में श्रमणों के पचासों सम्प्रदाय थे, उनमें से छः तीर्थंकरों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में आता है । जैन-साहित्य में लगभग सभी सम्प्रदायों का उल्लेख प्राप्त है । निशीथ की चूर्ण में चालीस श्रमण धाराओं का उल्लेख मिलता है । महाभारत, जैनागम, त्रिपिटक, स्मृति इन सबके विचारों का ताना-बाना इतना जुड़ गया है कि उनका मूल ढूँढ निकालना कठिन है । यह मध्यकाल में हुआ । आज की तुलनात्मक पद्धति चालू रही तो बहुत निष्कर्ष सामने आएंगे । हमने तो सोच लिया है कि पुराने जो कर गए, उसके बाद कुछ भी करने का नहीं रह गया । समुद्र को धकेलकर ज़मीन निकाली जा सकती है तो क्या धर्म में चिन्तन नहीं किया जा सकता ?

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विषय बहुत बड़ा है, इसके लिए पृष्ठभूमि की जरूरत थी वह मैंने प्रस्तुत की है। विचारों का संक्रमण कब हुआ, कैसे हुआ आदि बातों पर चिन्तन अपेक्षित है। दर्शन का विकास कालक्रम से हुआ है, वह अनादि नहीं है। हजारों वर्षों में भाषा के कई रूप-परिवर्तन हो जाते हैं, तब विचारों का प्रवाह एक रूप कैसे रह सकता है? इसलिए विचारों के क्रमिक विकास का अध्ययन करना दार्शनिक अध्ययन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण है।

जीवित धर्म : राष्ट्र धर्म

में धर्म की उपासना करता हूं पर उसकी नहीं करता, जो मृत है। मैं उसकी उपासना करता हूं जो जीवित है। जीवित वही है जिसका वर्तमान पर अधिकार है। अतीत असत् होता है, इसलिए कि वह अपना कार्य कर चुकता है। भावी असत् होता है कि वह कार्यक्षम नहीं होता। सत् वर्तमान है। उसकी उज्ज्वलता से भूत चमकता है और भावी बनता है।

तुम जीवित रहना चाहते हो तो कोरे अतीत के गीत मत गाओ। कोरी कल्पना की उड़ान मत भरो। आज क्या करना है, इसे सोचो, दो क्षण गहराई से सोचो।

तुम सहिष्णु हो, अनुशासित हो, स्थिरचेता हो, परिवर्तन की मर्यादा को जानते हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

अपनी भूलों को देखने, सुनने, स्वीकार करने और उनका परिमार्जन करने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

दूसरों की अच्छाइयों को देखने, सुनने, स्वीकारने और अपनाने में तुम क्षम हो तो तुम जीवित हो, तुम्हारा धर्म जीवित है, वर्तमान पर तुम्हारा अधिकार है और तुम्हारा वर्तमान उज्ज्वल है।

धर्म इसलिए जीवित तत्त्व है कि उसमें वर्तमान उज्ज्वल होता है। वह इसीलिए शाश्वत तत्त्व है कि उसमें वर्तमान सदा उज्ज्वल होता है।

धर्म, कर्तव्य और नीति

धर्म व्यक्तिगत होता है। वह सामाजिक या राष्ट्रीय नहीं होता। जो सामाजिक या राष्ट्रीय होता है, वह धर्म का संस्थान हो सकता है, धर्म नहीं। धर्म का अर्थ है, आत्मा की पवित्रता। वह वैयक्तिक ही हो सकता है।

कर्तव्य राष्ट्रीय हो सकता है। उसका अर्थ है नीति को क्रियान्वित करना। उसका सम्बन्ध आत्मा की पवित्रता से नहीं है, किन्तु दायित्व से है।

नीति भी राष्ट्रीय हो सकती है। वह सामाजिक जीवन जीने की पद्धति है। समूचे

समाज या राष्ट्र के लिए जनता उसे निश्चित करती है। वह व्यक्तिगत शुद्धि या रुचि के आधार पर नहीं बनती, किन्तु जनता के सामूहिक हितों के आधार पर निश्चित होती है।

कर्तव्य धर्म हो सकता है पर वह धर्म ही है, यह नहीं होता। नीति धर्म हो सकती है पर वह धर्म ही है, यह नहीं होता। इसका फलित अर्थ यह है कि धर्म और कर्तव्य सर्वथा एक नहीं हैं। महात्मा गांधी अहिंसा को अपना धर्म मानते थे। कांग्रेस ने उसे नीति के रूप में स्वीकार किया था। धर्म आत्मा से अभिन्न होता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। नीति समय-समय पर बदलती रहती है।

प्रश्न है सदाचार का

आज हिन्दुस्तान के सामने धर्म, कर्तव्य और नीति—ये तीनों प्रश्नचिह्न बने हुए हैं। सदाचार को अपना धर्म मानकर चलने वाले लोग बहुत कम हैं। वह राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में भी नहीं अपनाया गया है। राष्ट्रीय नीति के रूप में भी उसे बहुत बल नहीं मिल रहा है। इसीलिए असदाचार सदाचार पर हावी हो रहा है। इस स्थिति को बदलने के लिए धार्मिक पवित्रता का वातावरण बनाना, कर्तव्यबुद्धि को जगाना और नीति का दृढ़ता के साथ निर्धारण करना—ये तीनों अपेक्षित माने जाते रहे हैं। इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करते कि धार्मिक-बुद्धि भी नीति जितनी व्यापक नहीं हो सकती। नीति के साथ कानून की शक्ति है, इसलिए वह अनिवार्यता है। कर्तव्य के साथ दण्ड-शक्ति नहीं है। वह बौद्धिक-शक्ति का विकास है। धर्म आत्मा का आन्तरिक प्रकाश है।

दायित्व किसका

नीति स्थूल है, कर्तव्य सूक्ष्म है और धर्म सूक्ष्मतम। धर्म की मान्यता है—तुम अच्छाई से भिन्न कुछ हो ही नहीं। कर्तव्य कहता है—तुम्हें अच्छाई का पालन करना चाहिए। नीति कहती है—तुम्हें अच्छाई का पालन करना होगा। ये तीनों रेखाएं अपने-अपने क्षेत्र में विकसित होती हैं, तब असदाचार सदाचार पर हावी नहीं हो सकता। नीति-निर्धारण का दायित्व सरकार पर है। कर्तव्यबुद्धि जगाने का दायित्व सामाजिक कार्यकर्ताओं पर है। धार्मिक पवित्रता को विकसित करने का दायित्व धार्मिक गुरुओं पर है।

वर्तमान स्थिति को बदलने के लिए यह अपेक्षित है कि कोई आदमी—
रिश्वत न ले और न दे।

मिलावट न करे।

व्यक्तिगत संग्रह को प्रोत्साहन न दे।

दायित्व को लेकर जनता के प्रति अन्याय न करे।

सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार करे।

इन्हें राष्ट्रीय नीति, राष्ट्रीय कर्तव्य और राष्ट्रीय धर्म के रूप में मान्यता मिलने पर वह सहज ही हो जाएगा, जो सब लोग करना चाहते हैं।

हिन्दू राष्ट्रियता का प्रतिनिधि है, जाति और धर्म नहीं

कुछ वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने कहा था—‘वे हिन्दू हैं, जो हिन्दुस्तान के नागरिक हैं।’ हिन्दू शब्द का अर्थ राष्ट्रियता के संदर्भ में किया गया है। कुछ विद्वानों ने इसका अर्थ जाति और धर्म के संदर्भ में किया है। राष्ट्रियता के संदर्भ में किया जानेवाला अर्थ मूल भावना का स्पर्श करता है और प्राचीन है। जाति और धर्म के संदर्भ में किया जानेवाला अर्थ पल्लवग्राही है और अर्वाचीन है।

इन दोनों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना आवश्यक है। पहले हम दूसरे अर्थ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करें। हिन्दुस्तान में हजारों वर्षों से चार वर्ण और अनेक जातियां रही हैं। ‘मनुष्य जाति एक है’—इस अभेदात्मक सत्ता के उपरान्त भी उसकी भेदात्मक सत्ता जीवित रही है, फलतः मनुष्य अनेक जातियों में विभक्त रहे हैं। सारी जातियों का समाहार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णों में होता था। उनका विस्तार हजारों-हजारों जातियों में हुआ। उनमें हिन्दू नाम की कोई जाति नहीं थी। जाति के साथ हिन्दू शब्द का योग विदेशी आक्रमण की मध्यावधि में हुआ है।

हिन्दुस्तानी धर्मों का समाहार वैदिक, जैन और बौद्ध—इन तीन धाराओं में होता था। उनका विस्तार सैंकड़ों शाखाओं-प्रशाखाओं में हुआ। उनमें हिन्दू नाम का कोई धर्म नहीं है। धर्म के साथ हिन्दू शब्द का योग बहुत अर्वाचीन है।

भरत के नाम पर

अब हम हिन्दू शब्द के प्रथम अर्थ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विचार करें। हिन्दुस्तान का प्राचीन नाम भारतवर्ष था। भगवान् ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से इस भूखंड का नाम भारतवर्ष पड़ा था। इसके साक्ष्य में श्रीमद्भागवत, अन्य अनेक पुराण तथा जैन साहित्य का उल्लेख किया जा सकता है। भारतवर्ष के निवासी लोगों का व्यापारिक, राजनयिक, सांस्कृतिक व धार्मिक सम्बन्ध विदेशों के साथ बहुत प्राचीनकाल से था। भारतवर्ष की सीमा पश्चिम में सिन्धु नदी, पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी, उत्तर में हिमालय की दक्षिण श्रेणी और दक्षिण में समुद्र कर रहा था। सिन्धुनद से परवर्ती पारम्परिक व्यवस्था

आदि देशों में रहनेवाले लोग सिन्धुनद से उपलक्षित इस भूखण्ड (भारतवर्ष) को हिन्दू कहते थे। 'हिन्दू' सिन्धु का रूपान्तर है, जो उनकी स्वदेशोच्चारण शैली में हुआ है।

हिन्दु : सिन्धु

कालकाचार्य जब पारसीक देश में गए थे, तब उन्होंने शाही लोगों से यही कहा— 'चलो, हम हिंदुग देश में चलें'—'एहि हिन्दुगदेसं वच्चामो !' इस घटना का उल्लेख जिनदास महत्तर ने 'निशीथ चूर्णि' में किया है। वह विक्रम की सातवीं शताब्दी की रचना है। इससे स्पष्ट है कि उस समय तक 'हिन्दुग' का प्रयोग देश के लिए होता था। अभिधान राजेन्द्र (७/१२२८) में हिन्दु शब्द के अर्थ-परिवर्तन का क्रम बतलाया गया है। उसके अनुसार पहले 'हिन्दु' शब्द देशवाची था। पिर आधार-आधेय के सम्बन्धोपचार से वह 'हिन्दु' देशवासी आर्य लोगों का वाचक हुआ और तीसरी अवस्था में वह वैदिक धर्म के अनुयायियों का वाचक हो गया—'हिन्दुरितिव्यवहारतो जनपदपरोपि तात्स्त्यात् आर्यमनुष्यपरोऽजायत । क्रमादेतद्देशप्रसिद्ध-वेदमूलकलोकागमानुसारिष्यपि बोधको जातः ।'

वैदिक काल में सिन्धु और पंजाब को सप्तसिन्धु कहा जाता था। ऋग्वेद (२।३२।१२, २।१२।१२ आदि) में 'सप्तसिन्धु' का प्रयोग मिलता है। पारसियों के धार्मिक ग्रन्थ अवेस्ता में 'सप्तसिन्धु' के लिए 'हप्तहिन्धु' का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद (४।२७।१) में केवल सिन्धु का प्रयोग मिलता है। हिन्दु उसी सिन्धु का पर्शियन रूपान्तर है।

राष्ट्र और राष्ट्र के नागरिकों में अभेदात्मक सत्ता होती है। जापान की प्रजा जापानी, जर्मन की प्रजा जर्मनी—ये प्रयोग जैसे राष्ट्र और राष्ट्रीय प्रजा के अभेदात्मक स्वरूप के सूचक हैं, वैसे ही हिन्दुग (हिन्दुस्तान) और हिन्दु भी क्षेत्रीय सम्बन्ध के सूचक हैं। हिन्दु का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में था। बाहरी आक्रमणों से हिन्दुस्तान की सत्ता छिन्न-भिन्न हुई और उसकी प्रभुसत्ता आगन्तुक जातियों के हाथ में चली गई। तब हिन्दु शब्द का अर्थबोध संकुचित हो गया। मुसलमान और हिन्दु—ये दोनों शब्द एक-दूसरे के प्रतिपक्षी बन गए। संस्कृत व्याकरण में श्रमण और ब्राह्मण को नित्य प्रतिपक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया था, जैसे—अहिनकुलम्, अश्वमहिषम्, श्रमणब्राह्मणम् ! यह नित्य-वैर क्षीण हो गया। मध्ययुग का व्याकरणकार 'श्रमणब्राह्मण' के स्थान पर 'हिन्दु-मुसलमान' लिखता।

बाहरी जातियों के आक्रमण-काल में हिन्दुस्तान की प्रभु-सत्ता वैदिक धर्मावलम्बियों के हाथ में थी। इसलिए 'हिन्दु' शब्द इन्हीं के अर्थ में रूढ़ हो गया। यह 'हिन्दु' शब्द के अर्थ का इतिहास है।

नए परिप्रेक्ष्य में देखें

आज फिर से 'हिन्दु' शब्द को नये परिप्रेक्ष्य में देखना आवश्यक है। विभक्त और परस्पर विद्विष्ट जातियों का संगम राष्ट्रीय एकता का विधातक होता है। जिस परिस्थिति में हिन्दु और मुसलमान में शाश्वत विरोध बना था, वह परिस्थिति अब विलीन हो चुकी

है। आज का हिन्दुस्तान राजतन्त्र द्वारा शासित नहीं है। यहाँ न हिन्दुओं का राज्य है, न मुसलमानों का और न किसी अन्य जाति या सम्प्रदाय का। यह जाति-निरपेक्ष और सम्प्रदाय-निरपेक्ष राज्य है। इसमें सब जातियों और सब सम्प्रदायों को अपने विकास का समान अवसर और समान अधिकार है।

वर्तमान संदर्भ

वर्तमान में धर्म-सम्प्रदायों की सत्ता प्राचीन युग जैसी प्रभावी नहीं है। जातीय बन्धन भी शिथिल हो चुके हैं। आज शक्ति राजनीति में केन्द्रित है। फलतः राजनीतिक दल सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। कांग्रेस, समाजवादी दल, साम्यवादी दल—ये आरम्भ से ही सर्वसमाहर्ता थे। इनमें सभी सम्प्रदायों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। कुछेक दलों को साम्प्रदायिक दल कहा जाता था। वर्तमान चुनाव ने इसे असत्य प्रमाणित कर दिया। दिल्ली तथा अन्य क्षेत्रों में मुसलमानों का आशातीत समर्थन प्राप्त हुआ।

सम्प्रति जो राजनीतिक दल हिन्दुस्तान के शासन-सूत्र का संचालन कर रहे हैं, वे अब साम्प्रदायिक और जातीय-बन्धन से मुक्त हैं। इसी स्थिति के संदर्भ में 'हिन्दु' शब्द को संकीर्ण सीमा से निकालकर व्यापक भूमिका में प्रतिष्ठित कर देना चाहिए।

हिन्दु शब्द के प्रति एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया जा सकता है। जिस निमित्त ने इस राष्ट्र को 'हिन्दु' शब्द की संज्ञा दी थी, वह निमित्त ही अब निःशेष हो चुका है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार निमित्त के अभाव में नैमित्तिक का अभाव हो जाता है। हिन्दुस्तान का विभाजन हो जाने के पश्चात् सही अर्थ में 'हिन्दु' देश कहलाने का अधिकारी पाकिस्तान है। सिन्धु नदी उसी के भू-भाग को अभिसिंचित कर रही है। किन्तु इस स्थित्यन्तर के बाद भी वर्तमान हिन्दुस्तान ने अपना अधिकार या निमित्त खोया नहीं है। सिन्धुनद उसी के अधिकार-क्षेत्र में है। अतः उद्गम की दृष्टि से 'हिन्दु' कहलाने का उसका अधिकार पूर्णरूपेण सुरक्षित है।

ज्वलंत प्रश्न

इस राष्ट्र को अभिधा देने वाले दो शब्द हैं—भारत और हिन्दुस्तान। जिन शब्दों में हिन्दुस्तान के समस्त नागरिकों के समाहार की क्षमता हो, वैसे शब्द दो ही हो सकते हैं—भारतीय और हिन्दु। भारतीय शब्द का प्रयोग प्रचलित है। इस एक शब्द से काम भी चल सकता है। किन्तु हमारे सामने काम चलाने का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है—'हिन्दु' शब्द से लिपटे हुए विष के प्रक्षालन का। प्रश्न है—उससे सम्पृक्त संकीर्ण जातीय आस्था को तोड़ने का। प्रश्न है—उसमें आरोपित घृणा के उन्मूलन का। प्रश्न है—हिन्दु और मुसलमान इस शब्द-संश्लेष के विश्लेषण का। ये सारे प्रश्न हिन्दु शब्द को नया अर्थ देने पर ही समाहित हो सकते हैं।

एकता की समस्या

हमारे जीवन में एकता और अनेकता का ऐसा विचित्र योग है कि हम एक होकर भी अनेक हैं और अनेक होकर भी एक हैं। हमारी एकता का अर्थ है, समानता की अनुभूति और अनेकता का अर्थ है आवश्यकताओं का विभाजन।

एक भी, अनेक भी

हम सब मनुष्य हैं। मनुष्य-मनुष्य समान है, इसलिए सब एक हैं। किन्तु हमारी आवश्यकता-पूर्ति के स्रोत विभिन्न हैं। उनसे हम विभक्त हैं, इसलिए अनेक भी हैं। जिससे हमारी अपेक्षा पूरी होती है, उससे हमारा मोह हो, यह स्वाभाविक है। जिनसे मोह होता है, उन्हें महत्त्व देने की भावना भी अस्वाभाविक नहीं है। हम सबसे अधिक महत्त्व अपने शरीर को देते हैं। फिर अपने रंग-रूप, भाषा, जाति, गांव, जिला, प्रांत और राष्ट्र को देते हैं। उन्हें महत्त्व देना कोई अपराध भी नहीं है, यदि हम दूसरों को हीन माने बिना, बाधा पहुंचाए बिना उन्हें महत्त्व दें। किन्तु हमारे में अपने भौतिक साधनों को सीमा से अधिक महत्त्व देने की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए हम दूसरों के साधनों से अपने साधनों की योग्यता प्रमाणित करना चाहते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा मन घृणा, गर्व आदि अनेकता के बीजों की बुआई करता है। हम नहीं चाहते कि साधनों की अनेकता के आधार पर मानवीय एकता खण्डित हो, पर साधनों को असीम महत्त्व देते हुए हम यह कैसे कह सकते हैं? भौतिक साधनों के प्रति हमारा आकर्षण जितना अधिक होगा, उतनी ही अधिक मानवीय एकता खण्डित होगी। हम मानवीय एकता को बनाए रखना चाहते हैं और भौतिकता के आकर्षण को कम करना नहीं चाहते, फिर वह कैसे संभव होगी?

एकता को खंडित करने वाले तत्त्व

मानवीय एकता को खण्डित करने वाले प्रमुखतः तीन श्रेणी के लोग होते हैं। एक वे, जो शक्तिशाली होते हैं। दूसरे वे, जिनका बुद्धि-बल प्रखर होता है। तीसरे वे, जो प्रकृति के दुष्ट होते हैं। शक्तिशाली और बुद्धि-सम्पन्न लोग जब अधिकार-लोलुप हो जाते हैं, प्रत्यक्ष या परोक्ष साम्राज्य जब प्रिय हो जाता है, तब मानवीय एकता का भंग होता है। दुष्ट-प्रकृति के लोग अपने पर संतुलन न रखने के कारण भेद का वातावरण

उत्पन्न कर डालते हैं। इतिहास स्वयं साक्ष्य है कि जब-जब मानवीय एकता का भंग हुआ है, तब-तब ऐसे ही लोगों के द्वारा हुआ है।

तात्कालिक और स्थायी समाधान

यदि हम चाहते हैं कि मानवीय एकता पुनः स्थापित हो, भौतिक उपकरण को लेकर मनुष्य मनुष्य का शत्रु न बने तो हमें मानव-निर्माण के प्रति विशेष ध्यान देना होगा। तात्कालिक उपचार यह हो सकता है कि एकता के प्रबल आन्दोलन द्वारा मनुष्य को मानवीय एकता की अनुभूति कराई जाए किन्तु इसका स्थायी समाधान यह है कि हम अपने प्रशिक्षण-क्रम में तीन तत्त्वों को अनिवार्यता दें।

(१) शक्ति-संगोपन

(२) बुद्धि-संयम

(३) भाव-पवित्रता की शिक्षा

शक्ति-संगोपन की शिक्षा प्राप्त हो तो बहुमत अल्पमत के प्रति कभी आक्रमणकारी नहीं हो सकता और अल्पमत बहुमत के प्रति कभी उद्वंड नहीं हो सकता। शक्ति के संगोपन का उसकी उपलब्धि से अधिक महत्त्व है। बौद्धिक-संयम का अभ्यास हो तो किसी भी प्रकार का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता और शोषण भी नहीं हो सकता। स्वभाव की पवित्रता प्राप्त हो जाए तो आए दिन होने वाले संघर्ष समाप्त हो जाएं।

भेद के हेतु

राष्ट्रीय एकता की बात सोची जाती है पर हमारा विश्वास है कि मानवीय एकता को आधार माने बिना राष्ट्रीय एकता स्थितिशील नहीं बनती। मनुष्य के मूल्यांकन का हमारा दृष्टिकोण विशुद्ध नहीं है। हम मनुष्य को मनुष्य की दृष्टि से नहीं जानते-पहचानते। हम उसका अंकन जातीय, प्रांतीय, राष्ट्रीय, भाषायी आदि माध्यमों से करते हैं। इसलिए वह हमसे बहुत दूर रह जाता है। उसके माध्यम हमारे माध्यमों से भिन्न होते हैं इसलिए भेद मिट ही नहीं पाता। फिर भी जो राष्ट्रीय एकता का ज्वलंत प्रश्न है उस पर विचार करना चाहिए। वर्तमान में जो भेद वाली प्रवृत्तियां बढ़ रही हैं, उनके प्रभावशाली हेतु हैं :

१. प्रांतीयता,
२. जातीयता,
३. भाषा,
४. राजनीतिक-दल।

आश्चर्य की बात

जातीयता किसी दिन समाप्त हो सकती है। तब सब लोग अपने आपको भारतीय मानने में गौरव अनुभव करेंगे। जन्मना कोई बड़ा-छोटा, स्पृश्य-अस्पृश्य नहीं होता यानी जातिवाद समाप्त हो जाएगा। प्रांतों की व्यवस्था में भी सम्भव है परिवर्तन हो जाए। प्रांतों का विभाजन प्रशासन की सुविधा का साधन रहकर अलगाव का प्रमुख हेतु बनता है तो यह स्वयं एक दिन चिन्तनीय होगा किन्तु भाषा और राजनीतिक दल एकता के स्थायी शत्रु हैं। भाषा या राजनीतिक दल एक ही हो, यह कल्पना कुछ जटिल है। फिर भी ये दोनों जीवन को बहुत निकटता से प्रभावित करने वाले तत्त्व हैं। इसलिए इनके बारे में बहुत गहराई से सोचना चाहिए। भाषा का प्रश्न भी राजनीति से मिला नहीं है। परन्तु राजनीतिक व्यक्ति ही अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए भाषायी विवाद खड़ा करते हैं। जो लोग राष्ट्र-संचालन के लिए अधिक उत्तरदायी हैं, उनके द्वारा भी राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन नहीं मिलता है, यह सचमुच आश्चर्य की बात है।

अहिंसा की प्रतिकारात्मक शक्ति

हम जितना जीवन के बारे में जानते हैं, उतना मृत्यु के बारे में नहीं जानते। जीवन की शक्ति से हम जितने परिचित हैं, उतने ही मृत्यु की शक्ति से अपरिचित हैं। मृत्यु हमारी शत्रु नहीं किन्तु बहुत बड़ी मित्र है। हमारे मन में भय होता है तब हम उसे शत्रु मानते हैं। हमारा मन अभय होता है, तो वह हमारी मित्र बन जाती है। जो मृत्युंजय होता है, वह अकुतोभय होता है—उसे कहीं से भी भय नहीं होता।

शस्त्र भय का प्रतीक है

आज भारत के लिए अभय की आराधना का बहुत बड़ा प्रसंग उपस्थित है। वह सैनिक शिक्षा को अनिवार्य करके भी उतना शक्तिशाली नहीं बन सकता जितना मृत्यु को मित्र बनाकर बन सकता है। भय को भय से परास्त करने में मनुष्य को अधिक विश्वास है। इसलिए शत्रु के प्रति शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। शस्त्र भय का प्रतीक है। जिसका भय बहुत बड़ा होता है यानी जिसका शस्त्र बहुत शक्तिशाली होता है, वह उसे परास्त कर देता है। जिसका भय छोटा होता है यानी जिसका शस्त्र कम शक्तिशाली होता है। भय से भय या शस्त्र से शस्त्र को परास्त करने की शक्ति प्राप्त होने पर कुछ समय के लिए प्रत्येक युद्ध को टाला जा सकता है, किन्तु उसके परिणाम को नहीं टाला जा सकता। शस्त्र-निष्ठा के साथ जो अशान्ति, शिथिलता और आतंक उपजता है, वह समूचे राष्ट्र की पवित्र चेतना को लील जाता है।

मनुष्य के मन में भय होता है, इसलिए सहज उसमें शस्त्रनिष्ठा होती है। अवसर पाकर वह और प्रबल बन जाती है। चीन ने आक्रमण किया और भारत की शस्त्र-निष्ठा प्रबल हो गई। आज उसके सामने अहिंसा की चर्चा करना अपराध जैसा हो गया पर वह हमारे लिए बहुत ही चिन्तनीय है। हम थोड़ी-सी जटिल स्थिति आने पर इस प्रकार अहिंसा को विसर्जित कर दें तो उसका दूरगामी परिणाम अच्छा नहीं होगा।

अहिंसा का एक पक्ष

अनुव्रत अनुशास्ता श्री तुलसी ने सशस्त्र-प्रतिरोध को अस्वाभाविक नहीं कहा तो बहुत लोगों ने उसे पसंद किया। गुरुदेव ने अहिंसक-प्रतिरोध का विकल्प सुझाया तो बहुत लोग उससे सहमत नहीं हुए। इससे भारतीय आत्मा की नाड़ी-परीक्षा हो गई। आज

भी अधिकांश भारतीय अहिंसा को कायरता मान बैठे हैं । वे सोचते हैं कि पराक्रमी लोग उसे नहीं अपना सकते । उनका यह चिन्तन कारण-शून्य भी नहीं है । हमारे यहां अहिंसा का जितना प्राणि-दया के रूप में विकास हुआ है, उतना प्रतिकारात्मक शक्ति के रूप में नहीं हुआ है । हम किसी को न मारें—यह अहिंसा का एक पक्ष है । इस करुणात्मक पक्ष से हम दूसरों पर अपने द्वारा होने वाले अन्याय से बच सकते हैं किन्तु कोई दूसरा हमारे पर अन्याय करे, उससे नहीं बच सकते । उससे बचने का उपाय है अहिंसा की प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास । यदि यह हो तो कोई हमारे साथ अन्याय करने का दुस्साहस कर ही नहीं सकता ।

सफलता का प्रश्न

पूज्य गुरुदेव अहिंसक प्रतिकार की बात कहकर जनता को कायर नहीं बनाना चाहते किन्तु उस कायरता से उबारना चाहते हैं, जो शस्त्र-सज्जा होने पर भी मन के गह्वर में छिपी रहती है । गुरुदेव ने यह नहीं सुझाया कि आपकी निष्ठा शस्त्र-बल में हो । मन में भय और कायरता छिपी हो उस स्थिति में आप अहिंसक-प्रतिकार करें । शस्त्र, भय और कायरता का अहिंसा से कोई मेल ही नहीं है । वे कहते हैं कि केवल भारत ही नहीं समूचा संसार अहिंसक-प्रतिकार का मार्ग अपनाए । पर अपनाए वही और उसी स्थिति में जब उसका पराक्रम आत्मा से प्रस्फुटित हो, मन का एक भी कोना भय से भरा न हो और शस्त्र पर से आस्था उठ गई हो । वे चाहते हैं कि भारत ऐसा शक्तिशाली बने । मैं नहीं कहता कि उनकी कल्पना एक ही दिन, मास या वर्ष में सफल हो जाएगी किन्तु मैं मानता हूँ कि कोई भी कल्पना एक दिन अवश्य सफल होती है । इसलिए उसकी सफलता में हमें कोई संदेह नहीं होना चाहिए ।

प्रथम बार हम उसकी सफलता की परीक्षा करने का यत्न करें किन्तु यही देखें कि वह अच्छी है या नहीं । मुझे लगता है कि वह कल्पना बहुत अच्छी है । युद्ध समस्या का स्थायी समाधान नहीं है । दास-प्रथा और राजतंत्र-प्रथा के विरोध का आदिम इतिहास भी सन्देह की संकरी पगडण्डियों में से गुजरा है पर आज कोई दास नहीं है और राजे भी इतिहास की वस्तु बन गए हैं ।

अहिंसा के प्रति जन-मानस में जो सन्देह है, वह निर्हेतुक नहीं है । अहिंसा में निष्ठा न रखने वालों ने करुणात्मक पक्ष को जिस रूप में प्रस्तुत किया, उस रूप में प्रतिकारात्मक पक्ष को नहीं । इसीलिए अहिंसक भी बहुत बार भीरुवत् व्यवहार करते दिखाई देते हैं । सही अर्थ में वे अहिंसक हैं भी कहां ?

स्वतंत्र कर्म शक्ति

प्रतिकारात्मक शक्ति का विकास स्थिति के अस्वीकार पर निर्भर है । हिंसा का अर्थ है स्थिति का स्वीकार और अहिंसा का अर्थ है स्थिति का अस्वीकार । यह तभी हो

सकता है जब हमारी निष्ठा अध्यात्म में हो यानी आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को हम स्वीकार करें। जो स्थिति को स्वीकार करता है, वह आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को अस्वीकार करता है और जो आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार करता है, वह स्थिति को अस्वीकार करता है। वह कैसा अहिंसक और कैसा अध्यात्मवादी जो स्थिति को मान्यता दे, यह समझ में आने वाली बात है; पर आत्मा की स्वतंत्र सत्ता में निष्ठा रखने वाला उसे मान्य करे, यह समझ से परे है।

प्रतिकारात्मक शक्ति का अर्थ किसी की सत्ता या किसी के कर्म का प्रतिरोध करना नहीं है। उसका अर्थ है, स्वतंत्र कर्म-शक्ति का निर्माण। परिस्थिति से प्रभावित होकर हम जितना भी कर्म करते हैं, वह हमारा कर्म नहीं, किन्तु प्रतिकर्म होता है। हमारी अधिकांश प्रवृत्तियां क्रियात्मक नहीं किन्तु प्रतिक्रियात्मक ही होती हैं। हम बाह्य परिस्थिति से अप्रभावित रहकर कर्म करने लगे तो हममें प्रतिकारात्मक शक्ति का उदय स्वयं हो जाए।

प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया

अंधेरे में भूत को स्वीकार करने से डर लगता है। गाली को स्वीकार करने से क्रोध उभरता है। अपनी हीनता के स्वीकार से ही दूसरे के प्रति जलन पैदा होती है। यह दोष स्थिति में नहीं है, उसके स्वीकार में है। हम किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप को अपनी स्वतंत्र सत्ता में बाधा मानते हैं पर परिस्थिति के हस्तक्षेप को वैसा नहीं मानते। सचाई तो यह है कि वह हमारे कर्म में जितना हस्तक्षेप करती है, उतना कोई व्यक्ति कर ही नहीं सकता। चीन ने भारत पर आक्रमण किया, यह स्थिति का स्वीकार है। भारत यदि अपने स्वतंत्र कर्म में संलग्न होता, वर्तमान के प्रति नितांत जागरूक होता तो वह ऐसा कर ही नहीं पाता। भारत का सशस्त्र प्रत्याक्रमण भी स्थिति का स्वीकार है। यह कोई स्वतंत्र कर्म नहीं, केवल प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया है। हम देखते हैं कि क्रिया की प्रतिक्रिया होती है पर वास्तव में हमें कहना चाहिए कि प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया होती है। स्थिति से दबे हुए जगत् में शुद्ध क्रिया होती कहां है? मैं अपनी श्लाघा सुनकर फूलता हूं और अपनी निन्दा सुनकर स्नान होता हूं, ये दोनों—फूलना और स्नान होना स्वतंत्र कर्म नहीं हैं, किन्तु प्रतिकर्म हैं। मैं ऐसा करके अपनी स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं करता किन्तु परिस्थिति का खिलौना बनता हूं। इस दशा में मैं अहिंसक का नाम रखकर भी अहिंसक नहीं हो सकता हूं।

हम लोग स्थिति के स्वीकार की दुनिया में खड़े होकर सशस्त्र प्रतिकार की बात सुनते हैं तब हमें वह असंभव लगती है। अपनी पूर्ण स्वतंत्रता की आस्था के जगत् में खड़े होकर हम देखें तो दिखेगी कि सुरक्षा वस्तु में नहीं, अपने में है, शक्ति वस्तु में नहीं, अपने में है। वस्तु में हम ही अपनी शक्ति को आरोपित करते हैं और हम स्वयं को उसके सामने शक्तिहीन अनुभव करते हैं।

प्रश्न है आस्था का

अहिंसक प्रतिकार हमारी आस्था का प्रश्न है। हिंसा में निष्ठा है, वे शस्त्र-बल को जगा रहे हैं। अहिंसा-निष्ठ व्यक्ति अभय को जगाएँ। वह परमाणु बम से भी अधिक शक्तिशाली अस्त्र है। उसकी शक्ति की हम कोई कल्पना नहीं कर सकते। हमारे मन में भय होता है तभी हमारे पर कोई आक्रमण कर सकता है, शासन थोप सकता है और कुछ भी कर सकता है। हम अभय हो जाते हैं, हमें मृत्यु की असीम शक्ति प्राप्त हो जाती है, दुनिया की कोई भी शक्ति हमें आक्रान्त नहीं कर सकती। परशासित वही जाति होती है, जिसके पास अपना आस्था-बल नहीं होता।

अहिंसा की मर्यादा

शक्ति का उत्तर शक्ति, यह अहिंसा की पराजय नहीं, किन्तु उसके प्रति उत्पन्न भ्रम का निरसन है।

अहिंसा के स्वरूप और मर्यादा को नहीं समझने के कारण अनेक लोग अहिंसा और अशक्ति या अहिंसा और कायरता को पर्यायवाची मानने लगे। अहिंसा को समर्थन देने वाले राष्ट्र ने शक्ति का उत्तर शक्ति से दिया तो उन लोगों का भ्रम निरस्त हो गया कि अहिंसा और अशक्ति या अहिंसा और कायरता पर्यायवाची नहीं हैं।

कोई भी सरकार, भले फिर वह भारत की हो या दुनिया के किसी अन्य राज्य की, अहिंसा को अपनी नीति का आधार मान सकती है, किन्तु उसे नियामक तत्त्व नहीं मान सकती।

सिक्के के दो पहलू

अहिंसा को नियामक तत्त्व मानने वाली संस्था अपरिग्रही होगी, इसलिए वह राज्य पर नियंत्रण बनाए नहीं रख सकती।

कोई संस्था परिग्रही है और हिंसा में प्रवृत्त नहीं है, यह उतना ही असंभव है, जितना यह है कि कोई व्यक्ति जीवनधारी है पर श्वास लेने की क्रिया से मुक्त है।

परिग्रह और हिंसा एक सिक्के के दो पहलू हैं। राष्ट्र परिग्रह है। उसकी रक्षा अहिंसा से होगी, यह भ्रम है। अहिंसा से अपरिग्रह की रक्षा हो सकती है, परिग्रह की नहीं। इस सिद्धान्त के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि शक्ति का उत्तर, शक्ति की नीति अहिंसा की पराजय नहीं, किन्तु उसके प्रति उत्पन्न भ्रम का निरसन है।

जीवन-रक्षा परिग्रह से सम्बद्ध है। अहिंसा से उसी गुण के रक्षण की आशा की जा सकती है, जिसका सम्बन्ध परिग्रह से नहीं है।

शक्ति का गठबंधन केवल हिंसा से नहीं है। वह अहिंसा में भी होता है। अल्प हिंसा की शक्ति बड़ी हिंसा की शक्ति से परास्त होती है। इसलिए हिंसा के क्षेत्र में कहा जाता है, शक्ति का सफल प्रतिकार शक्ति ही है।

अल्प अहिंसा की शक्ति बड़ी अहिंसा की शक्ति से परास्त नहीं, इसलिए अहिंसा के क्षेत्र में नहीं कहा जा सकता कि शक्ति का सफल प्रतिकार शक्ति ही है। अहिंसा

की शक्ति से हिंसा की शक्ति परास्त नहीं होती, किन्तु परिवर्तित हो जाती है। अहिंसा में मारक शक्ति नहीं है। उससे हिंसक का हृदय प्रभावित हो सकता है, परिवर्तित हो सकता है, अहिंसक बन सकता है पर उसका प्रभावित-परिवर्तित होना अनिवार्य नहीं है।

अहिंसा की मर्यादा

अहिंसा का स्वरूप है मैत्री का अनन्त प्रवाह। उसका जगत् सीमाओं या विभाजन-रेखाओं से मुक्त होता है। राष्ट्र एक भौगोलिक सीमा है। इसलिए अहिंसा के सामने इस या उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही नहीं होता। उसके सामने सबकी सुरक्षा का प्रश्न होता है।

अहिंसा की मर्यादा है सबकी सुरक्षा— प्राणी-मात्र की सुरक्षा। एक की सुरक्षा और दूसरे की अ-सुरक्षा यह अहिंसा की मर्यादा का भंग है।

अहिंसा की मर्यादा है आत्मिक सुरक्षा। भौतिक सुरक्षा उससे हो सकती है— यह कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक सरल है कि उससे नहीं हो सकती।

शस्त्र-शक्ति से आत्मिक सुरक्षा नहीं हो सकती तब हम कैसे आशा करें कि अहिंसा की शक्ति से भौतिक सुरक्षा हो सकती है।

प्रश्न प्रयोग और प्रयोक्ता का

अहिंसा का अस्त्र आणविक अस्त्र से भी अधिक शक्तिशाली है किन्तु उसका प्रयोग शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकता है। हर व्यक्ति से उसके प्रयोग की आशा करना कठिन है। शस्त्र-शक्ति का प्रयोग एक कायर आदमी के लिए संभव नहीं, वैसे ही अहिंसा की शक्ति का प्रयोग उस शूरवीर के लिए भी संभव नहीं, जिसके मन में परिग्रह और जीवन का मोह है तथा जिसका मन घृणा से भरा है।

अहिंसा की शक्ति का सामान्य प्रयोग हर आदमी कर सकता है पर उसके असाधारण प्रयोग की अपेक्षा उन व्यक्तियों से ही की जा सकती है, जिनका प्रेम घृणा पर विजय पा चुका, जिनकी दृष्टि में मनुष्य केवल मनुष्य है—जातीय, साम्प्रदायिक आदि बंधनों से मुक्त।

अहिंसा की शक्ति के भिन्न स्तर नहीं हैं। किन्तु उसकी प्रयोग-शक्ति के अनेक स्तर हैं। हर स्तर से समान आशा कैसे की जा सकती है ?

अहिंसा के प्रयोग की पद्धति भी हर व्यक्ति को ज्ञात नहीं होती।

प्रयोग की पद्धति और क्षमता यदि प्राप्त हो तो अहिंसा के सामने हिंसा की शक्ति सफल नहीं हो सकती।

विश्व राज्य या सहअस्तित्व

यह हमारी दुनिया अनेक व्यक्तियों, जातियों, धर्मों, भाषाओं, राष्ट्रों और शासन-प्रणालियों का संगम है। मनुष्य में अनेक प्रकार की आकांक्षाएं, संदेह, भय, परस्पर-विरोधी हित-भावनाएं हैं। विस्तार और प्रसारवादी शक्तियां सदा सक्रिय हैं। संघर्ष इन परिस्थितियों का अपरिहार्य परिणाम है। संघर्ष के स्फुलिंग तब तक उछलते रहेंगे जब तक अनेकता, भेद या विभाजन की रेखाएं होंगी।

शान्ति की डोर

इस निष्कर्ष पर पहुंचने के बाद शान्ति के प्रयत्न शिथिल नहीं होते किन्तु अधिक उद्दीप्त होते हैं। शान्ति के प्रयत्न संघर्ष के स्फुलिंगों को अस्तित्वहीन बनाने के लिए नहीं हैं किन्तु इसलिए हैं कि स्फुलिंग अग्नि के रूप में न बदल जाएं। शान्ति के प्रयत्न करते रहना मानवीय विवेक की अपरिहार्य मांग है। शान्ति का भाग्य उन कुछेक लोगों की छत्रछाया में पल रहा है, जो सत्ता पर आरूढ़ हैं। जनता के भाग्य में अशान्ति का परिणाम भुगतना बचा है पर शान्ति की डोर उसके हाथ से छूट चुकी है। एकाधिकार राजनीतिक प्रभुत्व के युग में जनता के प्रतिनिधि शान्ति की चर्चा करें, उसका क्या विशेष अर्थ है, मैं नहीं जानता। यह बहुत स्पष्ट है कि जनता शान्ति और अशान्ति के लिए आज प्रत्यक्ष उत्तरदायी नहीं है। मेरी दृष्टि में आज का मुख्य प्रश्न शान्ति या तनाव कम करने का नहीं है। आज का मुख्य प्रश्न यह है कि शान्ति या अशान्ति के लिए जनता प्रत्यक्ष उत्तरदायी कैसे हो? यदि युद्ध और आक्रमण की लगाम जनता और सरकार दोनों के सामंजस्यपूर्ण हाथों में हो तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में अकल्पित परिवर्तन आ जाए।

शस्त्रीकरण और उपनिवेश का स्रोत

जन-शक्ति हमेशा मानवता का समर्थन करती है किन्तु राज-शक्ति का ध्यान हमेशा विस्तार और प्रसार की ओर केन्द्रित रहता है। उपनिवेशवाद इसी मनोवृत्ति की देन है। शस्त्रीकरण और उपनिवेश दोनों एक ही स्रोत से फूटे हुए दो प्रवाह हैं। आदि में दोनों एक हैं, मध्य में दोनों विभक्त हो जाते हैं और अन्त में दोनों फिर मिल जाते हैं। राज-शक्ति का अपना महत्त्व है पर उसे जितना असीम महत्त्व दिया जा रहा है उतना ही दिया जाता रहा तो निःशस्त्रीकरण की समस्या कभी नहीं सुलझेगी। विश्व-राज्य या

अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना उपनिवेश और शस्त्रीकरण की बढ़ती हुई होड़ के अंत का एक महत्त्वपूर्ण कदम हो सकता है ।

कम हों विभाजक रेखाएं

विभाजन उपयोगिता के लिए होता है पर उसकी जितनी रेखाएं खींची जाती हैं, उतनी ही दूरी बढ़ जाती है । विश्व-शान्ति के लिए यह बहुत अपेक्षित है कि इन विभाजन-रेखाओं को जितना संभव हो सके, उतना कम करने का प्रयत्न किया जाए ।

यातायात के साधनों की अविकसित दशा में अनेक राष्ट्र, अनेक जातियां और शासन-प्रणालियां अपनी-अपनी परिधि में चलती थी । आज के यातायात के विकसित साधनों ने दुनिया को बहुत छोटा बना दिया है । उसकी दूरी सिमट गयी है । परिधियां समाप्त हो गई हैं । इस नई स्थिति में एक राष्ट्र, एक जाति और एक शासन-प्रणाली के सिद्धान्त का बहुत महत्त्व बढ़ गया है । इसका भविष्य बहुत उज्ज्वल दिखाई दे रहा है । इस कल्पना को मूर्त रूप देने में कम उलझनें नहीं हैं, किन्तु विभाजन की रेखाओं को मिटाए बिना उलझनों का अंत ही नहीं आ सकता तब उन-उन उलझनों को सुलझाने के सिवा शान्ति के पक्ष में और चारा ही क्या है ?

शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त

विश्व-राज्य का सिद्धान्त भी मेरी दृष्टि में राजनीतिक सिद्धान्त है । शान्ति का आध्यात्मिक सिद्धान्त सह-अस्तित्व का विचार है । अनेक धाराएं भी सह-अस्तित्व का विकास होने पर एक धारा की भाँति व्यवहार कर सकती हैं । यह चार आना राजनैतिक पक्ष है और बारह आना आध्यात्मिक पक्ष है । और गहराई में उतरें तो अनुभव होगा कि यह सोलह आना आध्यात्मिक पक्ष है । इस पक्ष की पुष्टि के लिए आध्यात्मिक सिद्धांतों को विकसित और पुष्ट करना आवश्यक है ।

सह-अस्तित्व की सिद्धान्त-श्रृंखला इस प्रकार होगी :

शान्ति का आधार	:	व्यवस्था
व्यवस्था का आधार	:	सह-अस्तित्व
सह-अस्तित्व का आधार	:	समन्वय
समन्वय का आधार	:	सत्य
सत्य का आधार	:	अभय
अभय का आधार	:	अहिंसा
अहिंसा का आधार	:	अपरिग्रह
अपरिग्रह का आधार	:	संयम

शान्ति के सूत्र

जनता जो कुछ कर सकती है, वह यही कि विश्वभर के शान्तिवादी संगठनों का एकीकरण हो। वे एक भावना से विश्व-मानस को इन सिद्धान्तों से प्रभावित करें :

१. निरपेक्ष या आग्रहपूर्ण नीति का परित्याग।
२. सापेक्ष या तटस्थ नीति या स्वीकरण।
३. स्थिति का स्थायित्व की दृष्टि से मूल्यांकन।
४. स्थिति का परिवर्तन की दृष्टि से मूल्यांकन।
६. आत्म-विश्वास और पारस्परिक सौहार्द का विकास।
७. मानवीय एकता की तीव्र अनुभूति।

प्रबल है अस्तित्व का प्रश्न

यह विश्व अखण्डता से किसी भी रूप में नहीं जुड़ा हुआ खण्ड और खण्ड से विहीन अखण्ड नहीं है। यह विश्व यदि अखण्ड ही होता, तो व्यवहार नहीं होता, उपयोगिता नहीं होती, प्रयोजन नहीं होता। अगर विश्व खण्डात्मक ही होता तो ऐक्य नहीं होता। अस्तित्व की दृष्टि से यह विश्व अखण्ड भी है, प्रयोजन की दृष्टि से यह विश्व खण्ड भी है।

आज मनुष्य-जाति के सामने अस्तित्व का प्रश्न प्रबल है। उसे वह विश्व-राज्य या सह-अस्तित्व— इनमें से किसी एक सिद्धान्त के सहारे ही समाहित कर सकती है। यथार्थवादी और धार्मिक धारणा से सह-अस्तित्व का विकल्प अधिक संभव है।

विश्व बंधुत्व के सूत्र

जिस मनीषी ने इस सत्य का अनुभव किया— 'विश्व एक है' उसने उदात्त स्वर में विश्व बंधुत्व का उद्घोष किया। बंधु-शब्द में सौहार्द और प्रेम की अभिव्यंजना है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का बंधु है, इस उद्घोषणा की पृष्ठभूमि में जो सत्य है, उसको अध्यात्म की भूमि पर अभिव्यक्त करने में भारतीय मनीषा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। भेदभाव, विरोध, शत्रुता—इनके बीज बाहरी आवरणों के स्तर पर पनपते हैं। मनुष्य का भीतरी अस्तित्व है आत्मा। प्रत्येक प्राणी में आत्मा है, यह व्यापक सिद्धान्त है। हम मनुष्य के संदर्भ में विचार करते समय इस सिद्धान्त को प्रस्फुटित करें कि प्रत्येक मनुष्य में आत्मा है। हम मनुष्य की आकृति, रंग, जाति, सम्प्रदाय, प्रादेशिकता, राष्ट्रीयता, भाषा आदि को देखते समय यह न भूलें कि इन सब आवरणों के पीछे छिपा हुआ एक सत्य है और वह है आत्मा। जैसी आत्मा मुझमें है वैसी ही आत्मा इस मनुष्य में है, जिसे मैं देख रहा हूँ। इस आत्मोपम्य की अवधारणा के आधार पर विश्व बंधुत्व का प्रासाद खड़ा किया गया।

कटुता के सूत्रधार

कटुता और शत्रुता की बेल बाहरी आवरणों के आधार पर बढ़ती है। रंग-भेद और जाति-भेद कटुता के सूत्रधार बने हुए हैं। एक श्वेत वर्ण का आदमी काले रंग वाले को, अपने आपको उच्च जाति का मानने वाला आदमी हरिजन को सताने में रस लेता है। कुएं पर पानी नहीं भरने देता। एक श्वेत रंग का आदमी काले रंग वाले को अपने पास नहीं बैठने देता। यह द्वेष आवरण में उलझी हुई चेतना का परिणाम है, इसीलिए अध्यात्म के क्षेत्र से बार-बार घोषणा की गई— देहाध्यास अथवा देहासक्ति को छोड़ो। जातिवाद तात्त्विक नहीं है। संप्रदायवाद कल्याणकारी नहीं है। धर्म और संप्रदाय एक नहीं हैं। इन सिद्धान्तों ने मानवीय कटुता को धोने का बहुत प्रयत्न किया फिर भी सत्ता, धन के अहंकार से उन्मत्त बने लोगों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, इसीलिए विश्व-बंधुत्व जैसा महान् सिद्धान्त दृढ़मूल नहीं बन सका। समय-समय पर एक विश्व-सरकार, एक विश्व-धर्म जैसे स्वर गूंजते रहे, पर प्रादेशिकता और राष्ट्रीयता की मूर्च्छा ने उन स्वरो को सुना-अनसुना कर दिया, फलतः सभी व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तनाव का जीवन

जी रहे हैं। पुलिस, सुरक्षा बल और सेना को बढ़ा रहे हैं, हिंसा का प्रशिक्षण दिया जा रहा है, नए-नए शस्त्र खोजे जा रहे हैं। विश्व को कुछ घंटों में समाप्त करने की शक्ति का संचय किया जा रहा है। आदमी गरीबी और भूख से प्रताड़ित हो रहा है। भूमि की सुरक्षा के लिए धन शस्त्र-सज्जा में बहाया जा रहा है। इस मानवीय मूर्खता का सबसे बड़ा कारण है तनाव और उस तनाव को जन्म दिया है शत्रुता की भावना ने।

बाधा है निषेधात्मक तत्त्व

विश्व-बंधुत्व के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को भी हम नजरअंदाज न करें। सबसे पहली कठिनाई है— सब मनुष्यों का मस्तिष्क समान नहीं होता, चिन्तन समान नहीं होता, भावना समान नहीं होती, समझ समान नहीं होती, इन्द्रिय-निग्रह समान नहीं होता, मानसिक नियंत्रण समान नहीं होता, विवेक समान नहीं होता। इस असमानता का लाभ उठाकर हिंसा, आतंक, अपराध, दूसरे के सत्व का अपहरण करने की मनोवृत्ति, आक्रमण आदि निषेधात्मक तत्व अपना पंजा फैला देते हैं।

क्या इन बाधाओं को चीर कर विश्व-बंधुत्व की भावना को व्यापक नहीं बनाया जा सकता? यदि मनुष्य को तनावमुक्त, अभय, शांति और आनन्द का जीवन जीना है तो अवश्य ही इन बाधाओं को पार करने का सेतु निर्मित करना होगा और वह सेतु बनेगा मस्तिष्कीय प्रशिक्षण अथवा हृदय-परिवर्तन।

विश्व-बंधुत्व के आधार-सूत्र

भारत की मानविकी ने विश्व को व्यापक बनाने के जो सूत्र दिए हैं, उनका प्रशिक्षण बहुत महत्त्वपूर्ण है। कुछ सूत्रों का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। विश्व-बंधुत्व के आधारभूत सूत्र हैं:—

१. आत्मौपम्य की भावना का विकास।
२. मनुष्य जाति की एकता में विश्वास।
३. धर्म की मौलिक एकता में विश्वास।
४. राष्ट्रीय अथवा विभक्त भूखण्ड के नीचे रहे हुए अखण्ड जगत् की अनुभूति।
५. मैत्री और करुणा का विकास।
६. व्यक्तिगत स्वामित्व की सीमा।
७. शस्त्र के प्रयोग की सीमा।
८. अनावश्यक हिंसा की वर्जना।
९. संयम का विकास।

मानवीय संबंध सुधरे

इन सूत्रों का प्रचार-प्रसार हो, ये जन जन तक पहुंचें, इतना ही पर्याप्त नहीं है।

अपेक्षा है, इन मानविकी सिद्धांतों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए। मस्तिष्कीय परिवर्तन प्रशिक्षण से सम्भव है। इसकी पुष्टि विज्ञान के द्वारा हो रही है। अनेक वैज्ञानिक पशुओं को प्रभावित कर उनका मस्तिष्कीय परिवर्तन कर रहे हैं। क्या मनुष्य के मस्तिष्क को प्रशिक्षित नहीं किया जा सकता? निश्चित ही किया जा सकता है, पर इस ओर अभी ध्यान कम दिया जा रहा है।

विश्व-बंधुत्व के सिद्धान्त को व्यापक बनाने का पहला प्रयोग होना चाहिए मानवीय संबंधों में सुधार। इस शिक्षाप्रधान वैज्ञानिक और लोकतंत्रीय प्रणाली के युग में प्रत्येक मनुष्य ने अपने अस्तित्व को समझा है और हीन भावना से ऊपर उठकर समानता का शंखनाद किया है। इस स्थिति में बहुत आवश्यक है मानवीय संबंधों में परिवर्तन, समानता पूर्ण और मृदु व्यवहार का विकास। मानवीय संबंधों का परिवर्तन ही विश्व-बंधुत्व की आधारभूमि बन सकेगा।

एशिया में जनतंत्र का भविष्य

मनुष्य में वृत्तियों के दो वर्ग होते हैं। पहले वर्ग में तीन एषणाएं आती हैं और दूसरे वर्ग में तीन आकांक्षाएं। तीन एषणाएं हैं—

१. कामैषणा : काम-वृत्ति
२. वित्तैषणा : अर्थार्जन की वृत्ति
३. सुतैषणा : विस्तार की इच्छा

कामैषणा मनुष्य की मूल-वृत्ति है। वित्तैषणा उसकी पूरक है। सुतैषणा अपने को अमर रखने की मनोवृत्ति है।

तीन आकांक्षाएं हैं—

१. जिजीविषा : जीने की इच्छा
२. मुमुक्षा : स्वतंत्र रहने की इच्छा
३. वीप्सा : विस्तार की इच्छा

मनुष्य की ये एषणाएं और आकांक्षाएं क्रियान्वित होती हैं। इनका क्रियान्वयन ही सामाजिक जीवन है। जहां सामाजिक जीवन है, वहां शासन है।

जनतंत्र : अहिंसा का राजनीतिक स्वरूप

विश्व के अंचल में अनेक शासन-पद्धतियां थीं और हैं। जो वर्तमान में हैं, उनमें जनतंत्र अधिक स्वस्थ प्रतीत होता है। इसमें व्यक्ति को आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक और राजनीतिक सभी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। मेरी दृष्टि में जनतंत्र अहिंसा का राजनीतिक स्वरूप है।

अहिंसा के तीन आधार हैं :

१. अपरिग्रह,
२. समानता,
३. स्वतन्त्रता।

जनतंत्र भी तीन प्रकार के हैं :

१. व्यक्तिगत परिग्रह का नियमन
२. समानता
३. स्वतन्त्रता

सर्वोत्तम निधि

जिस व्यक्ति के मन में विषमता होती है, उसमें अहिंसा पनप नहीं सकती। जिस राष्ट्र में आर्थिक, जातीय और साम्प्रदायिक विषमता होती है, वहां जनतन्त्र नहीं पनप सकता।

एशियाई राष्ट्र अभी जनतंत्र के प्रभात की स्थिति में हैं। अभी उनमें विषमता के तीनों प्रकार प्राप्त हैं। एशियाई राजनयिकों ने जनतन्त्र का मार्ग पूर्व-मान्यता के रूप में चुना है। उसे वरदान के रूप में प्रमाणित करना अभी शेष है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि जनतंत्र का विकल्प शासन-प्रणाली के इतिहास में सर्वाधिक सफल है। स्वतन्त्रता व्यक्ति की सर्वोत्तम निधि है। वह उसकी सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने को भी तत्पर रहता है। शासन-क्षेत्र में स्वतन्त्रता अपहृत होगी किन्तु जनतन्त्र की प्रणाली स्वतन्त्रता-अपहरण के दोष से अपने को अधिक मुक्त रख सकी है।

शासन की अधीनता के हेतु

व्यक्ति शासन के अधीन होता है, उसके दो हेतु हैं :

१. सुरक्षा का आश्वासन
२. सहयोग का आश्वासन

व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देता है और उसके बदले में सुरक्षा एवं सहयोग प्राप्त करता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति सुरक्षा और सहयोग की उपलब्धि के लिए अपनी स्वतन्त्रता से हाथ धोना नहीं चाहता।

अधिनायिकतावादी शासन-प्रणाली में तंत्र की सुव्यवस्था और सुस्थिरता होती है, फिर भी उसमें व्यक्ति को वह मूल्य प्राप्त नहीं होता, जो उसे चेतनावान होने के नाते प्राप्त है।

लोकतन्त्रीय प्रणाली में व्यवस्था और स्थिरता का पक्ष कभी-कभी दुर्बल भी रहता है पर उसमें हर व्यक्ति को विकास का समान अवसर प्राप्त होता है।

व्यक्ति समाज में विलीन होकर भी जहां अपनी वैयक्तिकता को सुरक्षित पाता है, वहां वह अधिक संतोष का अनुभव करता है। इस तोष की अनुभूति ने ही जनतन्त्र को विकासशील बनाया है।

एशिया अभी तक वर्तमान युग की गति के साथ नहीं है। आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों में अभी वह पश्चिमी राष्ट्रों से पीछे है किन्तु जनतंत्र के लिए जिस मानवीय चेतना का विकास अपेक्षित है, वह एशिया में कम नहीं है। मानवीय स्वतंत्रता और समानता के संस्कार यहां चिर अतीत से पल्लवित होते रहे हैं। एशिया की आध्यात्मिक चेतना के साथ यदि किसी शासन-प्रणाली का समुचित योग हो सकता है तो वह लोकतंत्र

ही है।

जनतंत्र के विकास के लिए एशिया अत्यन्त उर्वर है। फिर भी सामयिक स्थितियों का विश्लेषण करते समय उसमें जनतंत्र के पल्लवन की भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। इस संदेह की पृष्ठभूमि में तीन तत्त्व छिपे हैं :

१. प्रभुत्व-विस्तार की भावना

२. गुटबन्दी

३. साम्प्रदायिक पक्षपात

जो बड़े राष्ट्र हैं, आर्थिक राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियों से सम्पन्न हैं; वे अपने प्रभुत्व का विस्तार चाहते हैं। इस आकांक्षा के आधार पर दो गुट बन गए हैं :

१. साम्यवादी

२. असाम्यवादी

एशिया में दोनों प्रकार के राष्ट्र हैं और तीसरे प्रकार के भी हैं : जो किसी गुट में नहीं हैं, तटस्थ हैं। हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र होने के साथ-साथ दुनिया का सबसे बड़ा तटस्थ राष्ट्र है।

दो गुटों के बीच में शक्तिशाली तटस्थ राष्ट्रों का अस्तित्व सेतु का काम करता है किन्तु राजनीति में सेतु की अपेक्षा अपने स्वार्थों की पूर्ति का महत्त्व कहीं अधिक है।

राजनीति की आत्मा

अमरीका जनतंत्र की सुरक्षा या साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए हर संभव प्रयत्न कर रहा है। क्या इस तथाकथित प्रचार में सचाई है ? पाकिस्तानी अमरीकी गुट में हैं। सही अर्थ में वह जनतंत्री भी नहीं, साम्यवादी भी नहीं है किन्तु अधिनायकतावादी है। उसने महान् लोकतंत्र को क्षत-विक्षत करने का शक्तिशाली प्रयत्न किया और उस अमरीका के शक्ति-संरक्षण में किया, जो जनतंत्र के विस्तार में सबसे अगुआ है।

यह विरोधाभास कितना आश्चर्यकारी है कि एक ओर जनतंत्र के विस्तार की अदम्य उत्कण्ठा और दूसरी ओर एक महान् जनतंत्र के विकसमान पौधे पर कुठाराघात ?

इस बिन्दु पर पहुंचकर हम राजनीति की आत्मा को देख पाते हैं कि उसका गठबंधन सिद्धांत के साथ उतना नहीं होता, जितना स्वार्थ-पूर्ति के साथ होता है।

स्वार्थ और सांप्रदायिकता

कुछ राष्ट्रों का आदर्श साम्प्रदायिकता है तो कुछ राष्ट्रों का सम्प्रदाय-निरपेक्षता। एशिया में दोनों प्रकार के राष्ट्र हैं। हिन्दूस्तान सम्प्रदाय निरपेक्ष राष्ट्र है। पाकिस्तान का आधार साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिक राष्ट्र साम्प्रदायिकता के आधार पर दूसरे राष्ट्रों से समर्थन पाते और देते हैं।

स्वार्थ-पूर्ति और साम्प्रदायिकता के आधार पर किया जाने वाला पक्षपात जनतंत्र

के भविष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा है। इस खतरे के परिणाम केवल एशिया के जनतंत्र देशों को ही नहीं, सारी दुनिया के जनतंत्र देशों को भुगतने होंगे।

जनतंत्र का विकास और सुरक्षा दूसरे राष्ट्रों की स्वतंत्र चेतना को कुण्ठित करने के प्रयत्नों से नहीं हो सकती। वह हो सकती है उनकी स्वतंत्र चेतना के उपभोग में सहयोग देने से। यदि इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया तो एशिया में ही नहीं, सारी दुनिया में जनतंत्र का भविष्य उज्ज्वल नहीं है।

जनतंत्र का भविष्य

साम्प्रदायिक कट्टरता वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ अपने-आप मिटनेवाली है। इससे जनतंत्र को दीर्घकालीन खतरा नहीं है। जिससे दीर्घकालीन खतरा है, वह है प्रभुत्व-विस्तार की भावना। यह परतंत्रता का सूत्र है, जो जनतंत्र के मूल आधार—स्वतंत्रता पर प्रहार करता है।

स्वतंत्रता और आर्थिक विकास की सम्भावना जनतंत्र में किसी अन्य प्रणाली से अधिक है, यह मान्यता पुष्ट होती जा रही है। इसलिए उक्त कठिनाइयों के उपरान्त जनतंत्र का भविष्य प्रकाशमय प्रतीत होती है। जिस एशिया ने इस आध्यात्मिक मंत्र को पढ़ा है—आत्मा का शासन, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए—वह महामनीषी लिंकन के उस वाक्य को अनादृत नहीं करेगा—जनता का शासन, जनता के द्वारा, जनता के लिए।

लोकतन्त्र और नागरिक अनुशासन

सारी इच्छाओं का केन्द्र मन है और मन की इच्छा का केन्द्र है स्वतन्त्रता। मन अपनी इच्छा से चलना चाहता है। वह अपने क्षेत्र में दूसरों का हस्तक्षेप नहीं चाहता। यह सार्वभौम स्वतन्त्रता मन का शाश्वत स्वभाव है।

व्यक्ति यदि अकेला ही होता है तो वह अपनी सार्वभौम स्वतन्त्रता का उपयोग कर पाता लेकिन आज वह अकेला नहीं है। वह सामाजिक जीवन जी रहा है। इसलिए उसकी स्वतन्त्रता सीमित है। चाहे-अनचाहे उसमें दूसरों का हस्तक्षेप भी होता है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक जीवन स्वतन्त्रता और परतन्त्रता का मिश्रित रूप है।

क्या वह जनतंत्र है ?

प्रजातंत्र व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता देता है। किन्तु आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना क्या सामाजिक राजनैतिक स्वतन्त्रता फलित होती है ? गरीबी के कारण न जाने कितने लोग आज भी अनेक परतन्त्रताओं या विवशताओं से जकड़े हुए हैं। चिन्तन की स्वतन्त्रता के बिना भी ऐसा ही होता है। अशिक्षित लोग भी विवशता की पकड़ से मुक्त नहीं होते।

मैं जिस भाषा में सोचता हूँ, उसमें जनतन्त्र का स्वरूप कुछ दूसरा है, वर्तमान स्वरूप से भिन्न और बहुत भिन्न। मैं निर्वाचन पद्धति को देखता हूँ तो लगता है यह जनतन्त्र है और जब शासन प्रणाली को देखता हूँ तो लगता है कि यह कठोर राजतन्त्र है।

जिस शासन में नियन्त्रणों का अधिक भार, शासन का अधिक दबाव और कानून का अधिक विस्तार हो, क्या वह जनतन्त्र हो सकता है ?

जनतंत्र और मनुष्य का स्वभाव

सीमित नियन्त्रण, सीमित दबाव और सीमित कानून— इनका समन्वित रूप जनतन्त्र। असीम इच्छा, असीम प्रयत्न और असीम उच्छृंखलता— इनका समन्वित रूप मनुष्य का स्वभाव।

प्राकृतिक रूप में मनुष्य-स्वभाव और जनतन्त्र की पद्धति में मेल नहीं है, किन्तु उनका मेल बिठाया जाता है। मनुष्य कुछ स्वभाव से बदलता है और कुछ जनतन्त्र। नियन्त्रण का थोड़ा विस्तार और इच्छा का थोड़ा संकोच, दबाव का थोड़ा विस्तार और

प्रयत्न का थोड़ा संकोच— यह जनतन्त्र का आकार बनता है। आज का जनतन्त्र इस आकार का नहीं है, इसलिए जनता और शासन— दोनों ओर से अधिक दबाव आ रहा है।

कैसा हो विरोध का स्वरूप ?

मैं नहीं कहता कि जनता का दबाव कम हो और सरकार का दबाव बढ़े, या सरकार का दबाव कम हो और जनता का दबाव बढ़े। ये दोनों विकल्प जनतन्त्र के लिए स्वस्थ नहीं हैं। उसकी स्वस्थता इसमें है कि दोनों ओर का दबाव घटे। जनतन्त्र में निरंकुश शासक और निरंकुश जनता दोनों खतरनाक होते हैं। इस खतरनाक स्थिति के लक्षण अनेक घटनाओं में प्रकट हो रहे हैं। दुकानों की लूट, अग्निकाण्ड, शस्त्रों का प्रयोग, पथराव और गोलियों की बौछार— ये अनुशासित नागरिकों के चरणचिह्न नहीं हैं। सरकारी निर्णय के विरुद्ध वैधानिक उपाय काम में लिए जाते हैं, यह अनुचित नहीं, किन्तु अराजकतापूर्ण स्थिति का निर्माण उचित भी नहीं है। इससे जनतन्त्रीय प्रणाली को आघात पहुंचता है और एकाधिनायकता को बल मिलता है। सरकारी निर्णय सभी पक्षों को प्रिय लगें, यह सम्भव नहीं। अप्रिय निर्णय का विरोध न हो, यह भी जनतन्त्र में असम्भव है। सम्भव यह है कि विरोध की पद्धति वैधानिक एवं शालीन हो। जनता को अनुशासन-विहीन बनाने में शायद किसी भी दल का हित नहीं है। आज एक दल को जनता की उत्तेजनापूर्ण और अनुशासन-विहीन प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ रहा है, कल किसी दूसरे-तीसरे दल को भी करना पड़ सकता है।

दायित्व किस पर

जनतन्त्र का भविष्य इस प्रश्न पर निर्भर नहीं है कि शासन किस दल का है ? उसका भविष्य इस प्रश्न पर सुरक्षित है कि उसकी जनता अनुशासित है और हर परिस्थिति का अनुशासित ढंग से सामना कर सकती है। शासक लोग भी आग्रह से मुक्त होकर जनता की स्थिति को जानना न चाहें, वस्तुस्थिति के साथ आंख-मिचौनी करें तो निश्चित रूप से अ-लोकतन्त्रीय प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिलता है। यत्र-तत्र विधान-सभा की घटनाएं भी अनुशासन के प्रति अनुराग उत्पन्न करने में सफल नहीं हुई हैं। फिर केवल जनता से अनुशासन और संयम की आशा कैसे की जाए ? सामंजस्य, समन्वय और सह अस्तित्व की बात केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ही अपेक्षित नहीं है। पहले उनकी अपेक्षा राष्ट्र में है — विभिन्न राजनैतिक दलों में है। विशेषतः सार्वजनिक महत्त्व की समस्याओं के समाधान के समय है। लोकतन्त्र अ-लोकतन्त्रीय उपायों से कभी सक्षम नहीं बनता। उसे सक्षम बनाने का प्रत्यक्ष दायित्व जनता पर है, प्रत्यक्षतर विधायकों पर और प्रत्यक्षतम शासकों पर। दायित्व के आधार पर यह स्वतः प्राप्त होता है— जनता अनुशासित हो, विधायक अनुशासिततर और शासक अनुशासिततम।

शिक्षण की ओर ध्यान दें

भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग अशिक्षित है। यह कहना कठिन है कि जो अशिक्षित हैं, वे अनुशासित नहीं हैं और जो शिक्षित हैं, वे अनुशासित हैं। हमारे विद्यालयों में लोकतन्त्र के शिक्षण की पर्याप्त व्यवस्था नहीं है, इसलिए जनता से विशिष्ट अनुशासन की आशा ही कैसे की जा सकती है ?

वर्तमान वातावरण में जो परिणाम सामने आ रहे हैं, उनसे भिन्न परिणामों की आशा नहीं की जा सकती।

इन घटनाओं की पुनरावृत्तियों से हमें न आश्चर्यचकित होने की जरूरत है और न खिन्न होने की, किन्तु एक पाठ लेने की जरूरत है। वह है लोकतन्त्रीय शिक्षण की समुचित व्यवस्था। मैं इसमें अधिक सफलता देखता हूँ कि हमारा ध्यान वर्तमान की घटनाओं पर ही न अटके किन्तु जिन कारणों से वे घटित हो रही हैं, वहां तक पहुंचें और उनके निवारण में लगे।

अणु-अस्त्र और मानवीय दृष्टिकोण

आज का युग अणु-युग के नाम से प्रसिद्ध है। अणु पहले भी उतने ही थे, जितने आज हैं पर अणु-युग होने का श्रेय अतीत को नहीं मिला, वर्तमान को ही मिला है। एक युग में आत्म-द्रष्टा महर्षियों ने अपने प्रत्यक्ष-दर्शन के बल पर अणुओं की चर्चा की थी। आज का वैज्ञानिक अपने यंत्र-बल के सहारे अणुओं की चर्चा करता है। स्थूल से सूक्ष्म और संघात से भेद अधिक शक्तिशाली होता है, यह रहस्य आज सर्वविदित हो चुका है। यह इसी सिद्धान्त की एक परिणति है।

जब तक मनुष्य में आत्मानुशासन था, असंग्रह था और अपने में 'स्व' का सन्तोष मानने का मनोभाव था तब तक वह निर्भय था। इसका अर्थ है कि वह शस्त्रहीन था। भय और शस्त्र में कार्य-कारण का सम्बन्ध है। भय होता है, शस्त्र का निर्माण होता है। भय नष्ट होता है, शस्त्र विलीन हो जाता है। आत्मानुशासन घटा, संग्रह बढ़ा, दूसरों के 'स्व' को हड़पने का मनोभाव बना तब भय बढ़ा, या उसकी सृष्टि ने शस्त्रों की परम्परा को जन्म दिया। इस परम्परा में अणु-शस्त्र अन्तिम नहीं है। भविष्य के गर्भ में इससे अधिक प्रलयकारी शस्त्र भी हो सकता है पर वर्तमान में यह सर्वाधिक प्रलयकारी है।

खण्डित है व्यक्तित्व

सहज ही जिज्ञासा होती है कि मनुष्य निर्माण चाहता है, फिर उसने प्रलय का संग्रह क्यों किया? इसके अनेक उत्तर हो सकते हैं किन्तु मेरी मान्यता में इसका कारण मनुष्य की खण्डता है। यदि वह अखण्ड होता तो किसके प्रति आकृष्ट होता और किससे दूर होता? किससे डरता और किसके लिए शस्त्र बनाता? पर किया क्या जाए, यह खण्डता नैसर्गिक है। एक-एक मनुष्य शरीर, मानसिक चिन्तन, परिवार, जाति, समाज, प्रान्त और राष्ट्र आदि अनेक खण्डताओं में खण्डित है। बाहरी और भीतरी, चारों ओर के वातावरण ने उसे व्यक्तिवादी बना रखा है। समाजवाद के दीर्घकालीन कठोर प्रयत्नों के उपरान्त भी यह खण्डता की मनोवृत्ति अभी टूट नहीं पायी है। यदि रूसी समाजवाद अखण्डता की ओर गतिशील होता तो उसके पास अणु-अस्त्र नहीं होते। उसका सामुदायिकता का सिद्धांत केवल अपने राष्ट्र की व्यवस्था पर है। खण्डता की मनोवृत्ति वहाँ भी उतनी है, जितनी अन्यत्र है। इसीलिए शस्त्रों की होड़ चल रही है।

अकाट्य तर्क

पहले मान्यता स्थिर होती हैं, फिर कार्य होता है। लोगों ने मान रखा है कि शक्ति-संतुलन ही शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है। रूस और अमेरिका में से कोई भी इस दौड़ में पिछड़ जाता तो युद्ध शुरू हो जाता। दोनों साथ-साथ चल रहे हैं, इसलिए युद्ध रुका है। तर्क के प्रति कोई तर्क नहीं है, क्योंकि बहुतों ने इसे अकाट्य मान रखा है। जो अकाट्य हों उसे काटने का यत्न क्यों किया जाए? हम तर्क से ऊपर उठकर देखते हैं तो लगता है कि इस दौड़ का मूल्य कल्पनाजगत् में है। यथार्थ में वह शून्य है। यदि युद्ध छिड़ता है तो दोनों सुरक्षित नहीं हैं, दुनिया का कोई कोना सुरक्षित नहीं है और यदि युद्ध नहीं होता है तो अणु-अस्त्रों का निर्माण कोरा अपव्यय है। इसका निर्माण दोनों दृष्टियों से व्यर्थ है। पर कोई एक करता है तो दूसरा बच भी कैसे सकता है? मानवता के प्रति सबसे बड़ा अन्याय उसने किया, जिसने अणु-अस्त्रों के निर्माण में पहल की।

महापशु बन रहा है मनुष्य

हम वर्तमान प्रश्न पर सोचें तो क्या यह सर्वथा निश्चित है कि शक्ति-संतुलन रहने पर युद्ध नहीं होगा? कभी-कभी आदमी में उन्माद भी जागता है, आवेग भी आता है। मानसिक-संतुलन खो बैठने पर क्या कोई भी आदमी आगे पीछे की सोचता है। मानवीय दुर्बलताओं से हम अपरिचित नहीं हैं। हम इससे भी सुपरिचित हैं कि कुछेक व्यक्तियों की भूल का परिणाम समूचे संसार को भोगना पड़ता है। द्वितीय महायुद्ध का परिणाम किसने नहीं भोगा? अणु-युद्ध का परिणाम कितना भयंकर है, इसकी कल्पना ही थर्रा देती है। जो लोग मानवता की दृष्टि से देखते हैं, वे अणु-अस्त्रों के निर्माण का विरोध कर रहे हैं, पर वे कितने हैं? बहुत थोड़े। अधिक वे हैं, जो मानवता के विनाश को अपने सिरहाने रखकर सोते हैं। अपने विनाश की तैयारी पशु भी नहीं करता। मनुष्य महापशु बन रहा है, जो अपने ही हाथों अपनी चिता रच रहा है। मृत्यु से घबराना नहीं चाहिए किन्तु ऐसा मूर्खतापूर्ण निमंत्रण भी उसे नहीं देना चाहिए।

आवश्यकता है तीव्र प्रयत्न की

वे थोड़े से व्यक्ति, जिनके हाथ में सत्ता है, इस प्रश्न पर मानवीय दृष्टि से नहीं सोच रहे हैं। वे सोच रहे हैं राष्ट्रीय दृष्टि से। पर राष्ट्र रहेगा कैसे जब मनुष्य ही नहीं होगा? अणु-अस्त्रों से मृतप्राय मनुष्य जाति क्या राष्ट्र को समुन्नत रख सकेगी? अणु-अस्त्रों से अभिशप्त अन्धी, बहरी भावी पीढ़ी से क्या राष्ट्र समुन्नत होंगे? सारी स्थिति बहुत स्पष्ट है, निर्विवाद है। उसे जानते हुए भी जो अनजान बन रहे हैं, उन्हें कैसे जगाया जाए? आज इस दिशा में तीव्र प्रयत्न की आवश्यकता है। अभी-अभी एक अणु-अस्त्र-विरोधी सम्मेलन बुलाया था। वह भी शायद शीघ्रता में हुआ होगा। इसीलिए वहां शान्ति के लिए अनवरत प्रयत्न करने वाले अनेक संस्थाओं के प्रतिनिधि नहीं थे। अध्यात्मवादी

या शान्ति की दिशा में प्रयत्न करने वाले शायद मिलना नहीं जानते । वे किसी न किसी बहाने पृथक् होकर चलते हैं । हिंसा में अपूर्व मेल होता है । उसकी शक्ति तत्काल एकत्रित हो जाती है । हमें अहिंसा की शक्ति को संचित करना है । निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई राष्ट्र पहल करने को तैयार नहीं है । पूर्ण निःशस्त्रीकरण सर्वथा वांछनीय होते हुए भी सम्भव है तंत्र के लिए व्यावहारिक न हो किन्तु अणु-अस्त्र जैसे मानव-जाति के प्रलयकारी अस्त्रों के निर्माण तथा संग्रह का उत्सर्ग करना अनिवार्य है । इस दिशा में जो पहल करेगा, वह मानवता का सबसे बड़ा पुजारी होगा ।

युद्ध की कल्पना करना बहुत धृष्टता की बात है । किन्तु युद्धकाल में भी युद्धस्थली से अतिरिक्त क्षेत्र को प्रभावित करने वाले अस्त्रों के निर्माण और प्रयोग पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण हो और यदि वह मानवता की अखण्डता के आधार पर हो तो वह विकास का एक बहुत बड़ा चरण होगा ।

युद्ध और अहिंसा

पंचशील

भारत अहिंसा का मूल स्रोत है। वह उसकी प्रतिष्ठा चाहता है। भारतीय धार्मिकों एवं दार्शनिकों ने ही नहीं किन्तु वर्तमान राजनयिकों ने भी अहिंसा की प्रतिष्ठा का प्राणपण से प्रयत्न किया है। प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने विश्वशान्ति के लिए प्रभावपूर्ण ढंग से अहिंसा का अवलम्बन लिया था। शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, अनाक्रमण, समझौता-वार्ता द्वारा विवादों का निपटारा और निःशस्त्रीकरण— राजनीति के आकाश में एक दिन पंचशील नक्षत्र की भांति चमक उठा। लगा कि विश्वशान्ति में उसका महत्त्वपूर्ण योग होगा। चीन और भारत जैसे दो महान देशों के प्रमुखों ने विश्व के सम्मुख उसका यह रूप प्रस्तुत किया :

१. एक दूसरे की प्रादेशिक या भौगोलिक अखण्डता एवं सार्वभौमिकता का सम्मान।
२. आक्रमण न करना।
३. आर्थिक, राजनैतिक अथवा सैद्धान्तिक— किन्हीं भी कारणों से एक-दूसरे के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।
४. समानता एवं परस्पर लाभ।
५. शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व।

बांडुग सम्मेलन

बांडुग सम्मेलन में पंचशील में पांच और सिद्धान्तों का समावेश कर वह २९ राष्ट्र द्वारा स्वीकृत किया गया।

१. मूल मानव अधिकारों और संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों, प्रयोजनों और सिद्धान्तों के प्रति आदर।
२. सभी राष्ट्रों की प्रभुसत्ता और प्रादेशिक अखण्डता के लिए सम्मान।
३. छोटे-बड़े सभी राष्ट्र और जातियों की समानता की मान्यता।
४. अन्य देशों के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करना।
५. संयुक्त-राष्ट्र उद्देश्य-पत्र के अनुसार अकेले अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा के

प्रत्येक राष्ट्र के अधिकार के प्रति आदर ।

६. किसी भी बड़ी शक्ति के स्वार्थ की पूर्ति के लिए सामूहिक सुरक्षा के आयोजनों के उपयोग से अलग रहना, एक देश का दूसरे देश पर दबाव न डालना ।
७. ऐसे कार्यों, आक्रमण अथवा बल-प्रयोग की धमकियों से अलग रहना, जो किसी देश की प्रादेशिक अथवा राजनैतिक स्वाधीनता के विरुद्ध हों ।
८. सभी आन्तरिक झगड़ों का शान्तिपूर्ण उपायों से निपटारा करना ।
९. पारस्परिक हित एवं उपयोग को प्रोत्साहन देना ।
१०. न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के लिए सम्मान ।

स्वत्व और कूटनीति

१३ जून, १९५५ को नेहरू-बुलगानिन के संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर होने के साथ पंचशील का तीसरा सिद्धान्त और भी व्यापक रूप में स्वीकार किया गया । तीसरे सिद्धान्त का जो नया रूप बना, वह इस प्रकार था— किसी भी राजनीतिक, आर्थिक अथवा सैद्धान्तिक कारण से एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करना ।

भारत ने अपने शान्ति-प्रयत्न और भी तीव्र कर दिये थे । उसके शासक संभवतः इस तथ्य को भुला चुके थे कि जहां भौतिकता होती है, वहां स्वत्व होता है और जहां स्वत्व होता है, वहां सुरक्षा भी आवश्यक होती है, और इस तथ्य को भी विस्मृत कर चुके थे कि कूटनीति की छाया में पलनेवालों का अंतस्तल कभी भी अपने को बाह्य जगत् में प्रकट नहीं करता । भारत में चीन का आक्रमण होने पर ही उनको इस सत्य का साक्षात् हुआ कि भारत-जैसे शान्तिप्रिय और शान्तिरत देश पर भी कोई आक्रमण कर सकता है और वह भी एक प्राचीन मित्र ।

तीन विचार श्रेणियां

वर्तमान युद्ध का अतीत यह है और वर्तमान सामने है । युद्ध का समय सबके लिए बड़ा विकट होता है । उसके समर्थन और असमर्थन का प्रश्न ज्वलन्त हो जाता है । इस समय सिद्धान्तवादी लोग लगभग तीन विचार-श्रेणियों में बंटे हुए हैं :

१. आक्रमण में विश्वास रखने वाले हिंसावादी ।
२. प्रत्याक्रमण में विश्वास रखने वाले मध्यममार्गी ।
३. अनाक्रमण में विश्वास रखने वाले अहिंसावादी ।

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद में विश्वास रखने वाले हिंसावादी लोग जैसे अपने देश के प्रति कोई विशेष अनुराग नहीं रखते, वैसे ही प्राणी-मात्र के प्रति सद्भावना में विश्वास रखने वाले अहिंसावादी भी किसी देश विशेष के प्रति अनुराग नहीं रखते, किन्तु दोनों एक श्रेणी के नहीं होते । हिंसावादी के सामने शत्रु और मित्र का विभाग होता है । अहिंसावादी के सामने वह विभाग नहीं होता । वह किसी को शत्रु नहीं मानता ।

आक्रमण और प्रत्याक्रमण

गुरुदेव श्री तुलसी अहिंसावादी हैं। अहिंसा की सक्रिय आराधना में वे प्राणपण से संलग्न हैं। उनकी आत्मा युद्ध का क्या, किसी छोटे-से छोटे विग्रह का भी समर्थन नहीं कर सकती। वे आक्रमण को घोर हिंसा मानते हैं। प्रत्याक्रमण उनकी दृष्टि में अहिंसा नहीं है, किन्तु आक्रमण और प्रत्याक्रमण भी एक कोटि की हिंसा है, यह भी उनका अभिमत नहीं है। आक्रमण घोर और अनर्थकारी हिंसा है। इसलिए उसके समर्थन का प्रश्न ही नहीं आता। प्रत्याक्रमण भी अहिंसा नहीं है इसलिए उसका समर्थन भी एक अहिंसावादी कैसे कर सकता है? किन्तु जैसे आक्रमण का तिरस्कार या विरोध किया जा सकता है, वैसे प्रत्याक्रमण का तिरस्कार या विरोध नहीं किया जा सकता।

चिन्तन की भ्रान्ति

कुछ अहिंसावादी लोग, जिनका हिंसा और अहिंसा-सम्बन्धी चिन्तन बहुत स्पष्ट नहीं है इस पर आश्चर्यचकित हैं कि आचार्यश्री तुलसी ने युद्ध का विरोध नहीं किया। उनका मानना है कि भारत अहिंसा और निःशस्त्रीकरण की बातें और युद्ध टालने का प्रयत्न करता रहा है। आज जब उस पर संकट आया तो वह तत्काल शस्त्रीकरण करने तथा युद्ध करने में संलग्न हो गया। जब कोई संकट न आए तब अहिंसा की बात और जब संकट आए तब युद्ध, यह कैसी अहिंसा? यह तो कसौटी का समय है। इसी समय उसे अहिंसा के द्वारा हिंसा को परास्त कर विश्व के सम्मुख एक उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए था। यह चिन्तन अहिंसावादी के लिए सर्वथा अर्थशून्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता है कि यह सर्वथा भ्रान्तिशून्य है और यह भ्रान्ति इसलिए उत्पन्न हुई है कि उनकी मान्यता के अनुसार अहिंसा के द्वारा सब निष्पन्न हो सकता है।

मर्यादा का बोध करें

गुरुदेव श्री तुलसी अहिंसा की मर्यादा और उसके निश्चित परिणाम में विश्वास करते हैं। वे कहते हैं— मैं अध्यात्म और अहिंसा के प्रति पूर्ण आस्थावान् हूँ, फिर भी उनसे (राष्ट्र और समाज की) सारी समस्याओं का समाधान होता है— इसे मैं भ्रम मानता हूँ। भौतिक उपकरणों पर स्वत्व का विसर्जन करें तो सारी समस्याएं अध्यात्म तथा अहिंसा से सुलझ सकती हैं। किन्तु उन पर स्वत्व स्थापित रखना चाहें और शस्त्र-सज्जा से विमुख भी रहना चाहें तथा (जब) अहिंसा से सब भौतिक उपकरणों की सुरक्षा न हो तब उसे असफल भी बताएं— यह दुहरा-तिहरा भ्रम है। हमें हिंसा और अहिंसा की मर्यादा और उनके परिणामों को समझकर ही चलना चाहिए।

भारत एक राष्ट्र है। वह भूमि, अर्थ, पदार्थ, सत्ता और अधिकार का संगठित

संस्थान है। उसके शासक, जो अहिंसा की बात करते थे, वे इस अर्थ में करते थे और आज भी करते हैं कि कोई किसी पर आक्रमण न करे और आक्रमण के लिए शस्त्र-सज्जा न बढ़ाए।

दोहरी भूल

कोई भी राष्ट्र, जो स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपना अस्तित्व बनाए रखना चाहता है, प्रत्याक्रमण की मर्यादा से अपने को मुक्त नहीं रख सकता। हां, प्रत्याक्रमण की मर्यादा से राष्ट्र को तब मुक्त रखा जा सकता है, जब उसका शासक-वर्ग और जनता यह मान ले कि इस राष्ट्र पर हमारा कोई स्वत्व नहीं है, जो चाहे वह आए और इसे अपने स्वत्व में ले, यह भावना हो तो प्रत्याक्रमण की कोई भी आवश्यकता नहीं रहती। भौतिक पदार्थों का स्वत्व भी रखना चाहे और उनका संरक्षण अहिंसा के द्वारा करना चाहे— यह दुहरी भूल है। उनका संरक्षण स्वयं हिंसा है और फिर वह अहिंसा का परिणाम कैसे हो सकता है? अहिंसा के द्वारा उसी वस्तु की रक्षा हो सकती है, जिसके परिणाम-काल में भी अहिंसा हो। भौतिक पदार्थ, सत्ता और अधिकार ये सब स्वयं हिंसा हैं, तब अहिंसा उनका संरक्षण कर पाए, यह कैसे हो सकता है?

पहुंच का तारतम्य

उक्त विचारधारा के कुछ लोग कहते हैं— अहिंसा अणुव्रत अहिंसा का विभाजन है। अणुव्रत अनुशास्ता की दृष्टि में अणुव्रत अहिंसा की विभक्ति नहीं किन्तु पहुंच का तारतम्य है। कोई भी व्यक्ति एक ही डग में चोटी तक नहीं पहुंच सकता। वह धीमे-धीमे आगे बढ़ता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा की पहुंच के कुछ स्तर निर्धारित किए थे। वे वस्तु-स्थिति पर आधारित हैं। उन्होंने हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया :

१. संकल्पजा
२. विरोधजा
३. आरम्भजा

संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है। विरोधजा हिंसा प्रत्याक्रमण हिंसा है। उसे छोड़ने में वह असमर्थ होता है, जो भौतिक संस्थानों पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है। आरम्भजा हिंसा आजीविकात्मक हिंसा है। उसे छोड़ने में वे सब असमर्थ होते हैं, जो भौतिक साधनों के अर्जन-संरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते हैं।

आक्रमण की अमानवीयता का बोध जागे

आज चीन संकल्पजा हिंसा या आक्रमणात्मक हिंसा की स्थिति में है और हिन्दुस्तान प्रत्याक्रमण की स्थिति में है। इस स्थिति में भारतीय शासक यह निर्णय कैसे ले सकते

हैं कि वे चीनी सैनिकों का सशस्त्र प्रतिरोध न करें। यदि वे ऐसा निर्णय लें तो वे शासक रह ही नहीं सकते। यह निर्णय तो भारत की पैतालीस करोड़ जनता ही ले सकती है कि चीनी जिस गति से आ रहे हैं, उन्हें आने दिया जाए, उनका सशस्त्र प्रतिरोध न किया जाए। यह निर्णय वह तभी ले सकती है, जब भौतिक सत्ता से अपना स्वत्व हटा ले। यदि ऐसा न चाहे, भौतिक सत्ता को बनाए रखना चाहे और उसका संरक्षण चाहे अहिंसा से, यह असम्भव नहीं तो तभी सम्भव है जब सब लोग और सब राष्ट्र आक्रमण को अमानवीय कार्य मानने लग जाएं।

समस्याएं, सरकार, अनशन और आत्म-दाह

समस्या का अर्थ है, समाज और जीवन का योग । जहां सामाजिकता है, जीवन की सामुदायिक पद्धति है और मनुष्य प्रकृति पर निर्भर है, वहां समस्याओं का होना अनिवार्य है । मनुष्य में ज्ञान है, स्मृति है । वह वर्तमान में जीता है, अतीत का अनुसन्धान करता है और भविष्य की कल्पनाएं करता है । इसीलिए वह वर्तमान समस्याओं का प्रतिकार करता है और संभाव्य समस्याओं के प्रतिकार की योजना बनाता है ।

समस्या प्रतिकार का संयंत्र

सरकार और क्या है ? समस्याओं के प्रतिकार का सबसे बड़ा संयंत्र । पौराणिक कहानी के अनुसार देवेन्द्र ने सब देवों का तिल-तिल भर रूप लेकर तिलोत्तमा का निर्माण किया और उसके द्वारा सुन्द-उपसुन्द नामक दैत्यों का अन्त किया । समाज और क्या करता है ? व्यक्ति-व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अंश लेकर सरकार का निर्माण करता है और उसे समस्याओं के समाधान की शक्ति देता है । इसीलिए इस तिलोत्तमा से जनता अपेक्षा रखती है कि वह समाज की समस्याओं का समाधान करे ।

मूलभूत समस्या

जैसे-जैसे काल का चक्र आगे घूमता है, वैसे-वैसे समस्याएं भी अपना परिधान बदल लेती हैं । आज की समस्याएं अतीत की समस्याओं से कुछ भिन्न हैं । आज मूलभूत समस्या है समाज का जागरण । खाद्य की कमी, सांप्रदायिक तनाव, छात्रों का आन्दोलन, दायित्व-हीनता आदि-आदि समस्याएं नहीं । वे तो मूल समस्या-वृक्ष के पत्र-पुष्प हैं । नींद में रोग नहीं मिटता, किन्तु उसका कष्ट मिट जाता है । यही दशा पुराने समाज की थी । उसमें समस्याएं थीं पर उनका कष्ट नहीं था । उनके अनुभव की क्षमता नहीं थी । आज के समाज की वह क्षमता है, इसीलिए उसकी कष्टानुभूति बड़ी तीव्र है । इस समय थोड़ा-सा रोग भी असह्य हो उठता है । बहुत बार सरकार की असफलता का कारण भी यही बनता है कि जागृत समाज के प्रति उनका व्यवहार जागरूकतापूर्ण नहीं होता ।

समस्याओं का अस्तित्व

सरकार समस्याओं को सुलझाने के लिए है, पर वह स्वयं समस्याओं से मुक्त नहीं है। तर्कशास्त्र में अन्योन्याश्रय और अनवस्था, ये दो दोष माने गए हैं। समस्याओं के ये दो प्राण हैं। एक अश्वारोही से किसी पथिक ने पूछा— 'यह घोड़ा किसका है?' उसने उत्तर दिया— 'जिसका मैं नौकर हूँ।' उसने फिर पूछा— 'तुम किसके नौकर हो?' उसने उत्तर दिया— 'जिसका यह घोड़ा है।' दोनों उत्तरों के बाद भी निर्णय लटकता रह गया। समस्या का अस्तित्व इसी में है कि कोई निष्कर्ष न निकले। एक आदमी आठ-दस कपड़े ओढ़ता था। पूछने पर वह बताता कि पहला कपड़ा मैला न हो, इसलिए दूसरा कपड़ा ओढ़ा है। दूसरा मैला न हो, इसलिए तीसरा ओढ़ा है। लोग उसे कहते— 'ग्यारहवां फिर ओढ़ो और तब तक ओढ़ते जाओ, जब तक मैला होने की संभावना हो।' यह अनवस्था का दोष है। किन्तु समस्याओं का अस्तित्व इसी में है कि एक समस्या अनावृत होती है, उससे पहले ही दूसरी समस्या सामने प्रस्तुत हो जाती है।

समस्या के प्रति समस्या के प्रयोग

आज जनता सोचती है कि सरकार उसके लिए समस्या है और सरकार सोचती है कि जनता उसके लिए समस्या है। चिन्तन इस बिन्दु के आस-पास घूम रहा है कि जनता के लिए सरकार नहीं है और वह सरकार जनता के लिए हो भी कैसे सकती है, जो जनता की भावना का आदर न करे। इसी भावना की अनुभूति ने शायद अनशन और आत्मदाह जैसी समस्याओं की सृष्टि की है। ये अनशन और आत्मदाह समाधान नहीं हैं, किन्तु समस्या के प्रति समस्या के प्रयोग हैं। नई समस्या पैदा कर पहली समस्या को सुलझाने के प्रयत्न हैं। किन्तु चिन्तन के आकाश में एक प्रश्न उभर रहा है, क्या वे प्रयोग समस्या को सुलझा सकेंगे ?

सम्यक् उपाय

हमारा चिन्तन केवल वर्तमान की धुरी में अटक गया है। हम आज भविष्य की प्रलम्ब काया को आँखों से ओझल कर सांस ले रहे हैं। इसे हम कैसे भुला देते हैं कि कोई भी सरकार स्थायी नहीं होती, इसलिए वह स्थायी समस्या भी नहीं हो सकती। किन्तु समाज में जो परम्परा डाल दी जाती है, वह स्थायी हो जाती है और उसके दीर्घकालीन परिणाम समाज को भुगतने पड़ते हैं। अनशन और आत्मदाह की परम्परा कितनी भयंकर हो सकती है, किसी भी समाज और सरकार के लिए, क्या उसकी हमें कल्पना नहीं है ? अनशन और आत्मदाह जैसे प्रयत्नों से सरकार को बाध्य करना समस्या का हल है या जनमत को जागृत करना ? यदि जनमत जागृत हुआ तो वह जन-भावना का अन्याय करने वाली सरकार को तत्काल अपदस्थ कर देगा। लोकतंत्र में समस्याओं के हल का

यही एकमात्र सम्यक् उपाय है ।

आज का जागता हुआ समाज इन बाध्यताओं को अधिक समय तक सहन नहीं करेगा । यदि ये बाध्यताएं धार्मिक मंच से आती हैं और साम्प्रदायिक तनावों की संपुष्टि के लिए आती हैं, तो वे धार्मिक मंच के भविष्य को धुंधला करने वाली प्रमाणित होंगी ।

अनशन

अनशन, जो कि विशुद्ध धार्मिक प्रयोग था और समाधि चाहने वाले संत अत्यन्त निर्मलभाव से उसे स्वीकार करते थे, आज राजनीतिक बाध्यता का हथियार बन गया है । उसका प्रयोग इतना सस्ता हो गया है कि उसकी शक्ति समाप्ति के तट पर है । राष्ट्रीय स्तर पर अनशन के प्रयोग पर चिन्तन और उसकी सीमाओं का निर्धारण होना चाहिए । जिस अनशन के साथ दूसरों की बाध्यता जुड़ी हुई हो, उसे धार्मिक अनशन मानने का पुष्ट आधार प्राप्त नहीं होता । आजकल अधिकांश अनशन राजनीतिक आधार पर हो रहे हैं और समस्या के लिए किये जाने वाले ये अनशन आज समाज के सामने स्वयं समस्या बनकर खड़े हैं ।

आत्मदाह

आत्मदाह तो अनशन से भी अधिक भयंकर हथियार है । अनेक देशों में आत्माहुति की करुण घटनाएं घटित हुई हैं । आश्चर्य होता है कि इस वैज्ञानिक व बौद्धिक युग में किस प्रकार ऐसी घटनाओं को समाज सहता है और उन्हें प्रोत्साहन देता है ।

लोकतंत्र की दयनीयता

लोकतंत्र की यह सबसे बड़ी दयनीयता है कि उसके पास नीति-निर्वाह का कोई ध्रुव-केन्द्र नहीं होता । बदलती हुई सत्ता, व्यक्ति और नीति ध्रुवांश को बहुत कम बचा पाती है । जातीयता, साम्प्रदायिकता और भाषा के सम्बन्ध में यदि कोई ध्रुवनीति होती और निर्वाचन के अवसर पर भी उसकी ध्रुवीयता का निर्वाह किया जाता तो अनशन और आत्मदाह के अवसर स्वयं शक्तिहीन बन जाते ।

जीवन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली

आज लोकतंत्र का बोलबाला है, इसलिए उसकी समालोचना करना अपराध हो सकता है किन्तु क्या एक अपराधी के शब्दों में वह बल नहीं हो सकता, जिससे अपने आपको निरपराध मानने वाले बहुत सारे लोग अपने छिपे अपराधों की सूचना पा सकें । लोकतंत्र जीवन की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है, किन्तु सत्ता से चिपट जाने वाले लोग उसकी श्रेष्ठता को प्रमाणित नहीं कर सकते । आज ऐसा ही हो रहा है । लोकतंत्र की वह सरकार सही अर्थ में लोकतंत्र की सरकार होगी जिसके विजय का आधार साम्प्रदायिक, जातीय

व अन्य गलत तत्त्वों के साथ चुनाव समझौता तथा अन्य अशुद्ध साधन नहीं होगा। उसकी विजय का आधार होगा, सैद्धान्तिक स्पष्टता, जन-सेवा और राष्ट्रहित का कार्यक्रम।

आज छोटी-मोटी असंख्य समस्याएं उभर रही हैं। उनका समाधान मुझे इस भाषा में दीखता है—जागृत समाज द्वारा जागरूक दृष्टि से सरकार का निर्माण और सरकार द्वारा जागृत समाज के प्रति जागरूकतापूर्ण व्यवहार।

अहिंसा : शक्ति-संतुलन

हिंसा और अहिंसा का प्रश्न अनादिकाल से चर्चित हो रहा है। फिर भी हिंसा की प्रकृति से मनुष्य मुक्त नहीं हुआ है। वह चलता है तो उसके सामने हिंसा का प्रश्न है। खाता है तब भी वही प्रश्न है। खाए बिना और जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं को पूरा किए बिना, प्रश्न है वह कैसे जिए ? क्या अहिंसा का अर्थ जीवन का उत्सर्ग माना जाए ? यदि वही माना जाए तो अहिंसा जीवित मनुष्य के लिए नहीं होगी, फिर वह स्वयं जीवित कैसे होगी ? जो मृत के लिए हो उसका मूल्य जीवित सृष्टि के लिए कैसे होगा ?

मैं कोई नई स्थापना नहीं कर रहा हूँ, जो यथार्थ है, उसे मात्र अनावृत कर रहा हूँ। मनुष्य प्रकृति से हिंसा के लोक में जीता है। दूसरे जीवों के बलिदान पर उसका जीवन चलता है। दूसरों के तिरस्कार पर उसके सम्मान का पौधा फलता है। कुछ भी मन के प्रतिकूल होता है, वह क्रोध से भर जाता है। उसका वैभव प्रवंचना और शोषण पर फलित होता है। हिंसा की प्रकृति से मुक्त होकर कोई आदमी बड़ा और कोई छोटा हो सकता है। हिंसा की प्रकृति से मुक्त होकर कोई आदमी समृद्ध और कोई करीब हो सकता है। हिंसा की प्रकृति से मुक्त होकर कोई आदमी शोषक और कोई शोषित हो सकता है। बड़ा और छोटा, समृद्ध और गरीब, शोषक और शोषित— ये सभी वर्ग हिंसा के द्वारा लोक में बनते हैं। फिर भी हिंसा उसको भी प्रिय है, जो छोटा है, जो गरीब है और जो शोषित है। आपके मन में इसके हेतु की जिज्ञासा होगी तो मैं यही कहूँगा कि हिंसा मनुष्य की प्रकृति है। अहिंसा मनुष्य की प्रकृति नहीं है। वह सैद्धान्तिक स्वीकृति और ऊर्ध्वारोहण का प्रयत्न है। उस प्रयत्न की दिशा में मनुष्य प्रेम से क्रोध, विनम्रता से अभिमान, ऋजुता से प्रवंचना और साम्य की अनुभूति से लोभ पर विजय प्राप्त करता है। प्रेम, विनम्रता, ऋजुता और साम्य की अनुभूति की एक शब्द में जो पहचान है, वह अहिंसा है।

अहिंसा की पकड़ इतनी स्थूल है कि कुछ जीवों को मारने या बचाने का प्रयत्न कर आदमी अपने को अहिंसक मान लेता है। वह अहिंसा की एक रेखा हो सकती है किन्तु उसकी समग्रता नहीं है। अहिंसा की पूर्णता वृत्तियों के शोधन से प्रकट होती है।

त्याग है, विफलता नहीं

कुछ लोग कहते हैं अमुक आदमी ने अहिंसा का मार्ग चुना इसलिए वह पिछड़ गया। हिंसा करने वाला आगे बढ़ गया। उनकी दृष्टि में आगे बढ़ने का अर्थ है वैभव पा लेना, सत्ता हथिया लेना और अकरणीय कार्य में सफल हो जाना। अहिंसा के मार्ग पर चलने वाला अशुद्ध साधन का सहारा नहीं ले सकता, इसलिए वह येन केन प्रकारेण धनार्जन नहीं कर सकता, सत्ता नहीं हथिया सकता। यह अहिंसा की विफलता नहीं किन्तु उसका त्याग है। जो हिंसक कर सकता है और पा सकता है, वही अहिंसक को करना और पाना चाहिए तब फिर हिंसा और अहिंसा के उद्देश्य, साधना और प्राप्य में अन्तर ही क्या होगा ?

अहिंसा की अभिमुखता

हिन्दुस्तान के इतिहास में अनेक सम्राट् ऐसे हैं जिन्होंने जीवन के पूर्वार्ध में साम्राज्य का विस्तार किया और उसके उत्तरार्ध में साम्राज्य का परित्याग कर दिया। साम्राज्य का विस्तार हिंसा से किया और अहिंसा की भावना प्रबल हुई तब उसे छोड़ दिया। बाह्य की दृष्टि से अनुमापन करने वाला इसे अहिंसा की पराजय मानेगा। इस मान्यता में अभिमुखता का ज्ञान नहीं है। अहिंसा की अभिमुखता साम्राज्य की ओर हो नहीं सकती। उसकी अभिमुखता उतने स्वत्व की ओर होगी, जितना संविभाग से उसे प्राप्त है। एक आदमी साम्राज्यवादी भी हो, संग्रहपरायण भी हो और अहिंसक भी हो, क्या यह संभव है ?

समस्या है निष्ठा की

बहुधा पूछा जाता है कि यदि अहिंसक के हाथ में वैभव और सत्ता नहीं होगी तो शक्ति-संतुलन हिंसक के हाथ में चला जाएगा। हिंसा की शक्ति हिंसक के हाथ में रहेगी ही। पर यह क्यों मान लिया जाता है कि अहिंसा में शक्ति नहीं है, अहिंसक शक्तिशून्य ही होता है। अहिंसक के पास जो नैतिक शक्ति होती है वह हिंसक के पास हो ही नहीं सकती है। प्रश्न यह नहीं है कि अहिंसक के हाथ में शक्ति-संतुलन नहीं है। प्रश्न यह है कि सही अर्थ में अहिंसा में निष्ठा रखने वाले लोग कम हैं। सतही अहिंसा गहराई में रही हुई हिंसा से निस्तेज हो जाती है। सैद्धान्तिक अहिंसा में प्रकट शक्ति नहीं है। उसका उदय अन्तस् की अहिंसा में होता है। अन्तस् की अहिंसा यानी वृत्तियों के व्यूह को भेदकर आनेवाली अहिंसा। वृत्ति के एक पार्श्व की चर्चा में अपनी अनुभूति के संदर्भ में करूँगा। मेरे गुरु ने कहा— किसी व्यक्ति को प्रसन्न रखने की आकांक्षा अच्छी नहीं है। मैं एक क्षण के लिए विस्मित-सा रहा। मैंने वे शब्द आश्चर्य के साथ सुने। फिर कुछ समय के पश्चात् मैंने उन पर चिन्तन किया। मुझे लगा वे शब्द सत्य को अपने में समेटे हुए हैं। मनुष्य अपने आप में पूर्ण है। उसकी अपूर्णता का पहला बिन्दु भय है।

भय और आकांक्षा

भय का होना और आकांक्षा का होना दो नहीं हैं। जिसके मन में कोई आकांक्षा नहीं है उसके मन में कोई भय नहीं है, यह स्थापना तर्क से सर्वथा अनाहत है। जीवन की आकांक्षा नहीं है और मौत का भय है, क्या इस उक्ति में विरोधाभास नहीं है ?

दुःख का भय उसे कब सताएगा, जो सुख की आकांक्षा से मुक्त हो चुका है ! निन्दा का भय उसी को आक्तांत करता है, जिसके मन में प्रशंसा की भूख है। मैं दूसरों से इसलिए डरता हूँ कि उनके मन में अपनी पूर्णता का प्रतिबिम्ब देखने की ईप्सा मेरे अन्तःकरण में विद्यमान है। मैंने आकांक्षा के धागे को जितना बाहर की ओर फैलाया है उतना ही भय का जाल मैंने बुना है।

मुझे भय है कि उस धागे को तोड़कर मैं जी नहीं सकता। इस भय का जन्म आकांक्षा से उत्पन्न भय से हुआ है। इसी भय ने मेरी वास्तविक उपलब्धि पर आवरण डाल रखा है। आकांक्षा का नहीं होना सबसे बड़ी उपलब्धि है। सचाई यह है कि आकांक्षा के धागे को तोड़कर मैं जो पा सकता हूँ, वह उसके अस्तित्व में नहीं पा सकता।

पूर्णता का अर्थ

पाना कुछ नहीं है। जो प्राप्य है, वह अन्तस् में प्रस्थापित है। किन्तु बाहर से पाने की आकांक्षा ने कृत्रिम भूख पैदा कर रखी है। मैं जो भी खाये जा रहा हूँ, सब स्वाहा हो रहा है और भूख बढ़ती जा रही है। यही मेरी अपूर्णता है। पूर्णता का अर्थ है आकांक्षा का न होना। आकांक्षा के न होने का अर्थ है भय का न होना। भय के न होने का अर्थ है अहिंसा का होना।

मेरे मन में आकांक्षा है, उससे उत्पन्न भय है और मैं मानता हूँ कि मैं अहिंसक हूँ, क्या ऐसा हो सकता है ?

जो अपने को अहिंसक मानता है और अहिंसा के पथ पर निरन्तर गतिशील रहता है, वह आत्मालोचन से विमुख नहीं हो सकता। व्यवहार की भूमिका में दोष का आरोपण दूसरों पर करना और अपनी पूर्णता पर आवरण डालते जाना सम्मत है किन्तु अहिंसा की पार्श्वभूमि में यह सब बदल जाता है। इस बदली हुई स्थिति में ही अहिंसा की शक्ति प्रकट होती है।

अहिंसा के दो स्तर

जिस दिन मनुष्य समाज के रूप में संगठित रहने लगा, आपसी सहयोग, विनिमय तथा व्यवस्था के अनुसार जीवन बिताने लगा, तब उसे सहिष्णु बनने की आवश्यकता हुई। दूसरे मनुष्य को न मारने, न सताने और कष्ट न देने की वृत्ति बनी। प्रारम्भ में अपने परिवार के मनुष्यों को न मारने की वृत्ति रही होगी, फिर क्रमशः अपने पड़ोसी को, अपने ग्रामवासी को, अपने राष्ट्रवासी को, होते-होते किसी भी मनुष्य को न मारने की चेतना बन गई। मनुष्य के बाद अपने उपयोगी जानवरों और पक्षियों को भी न मारने की वृत्ति बन गई। अहिंसा की यह भावना सामाजिक जीवन के साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई और उसकी उपयोगिता के लिए ही विकसित हुई, इसीलिए उसकी मर्यादा बहुत आगे नहीं बढ़ सकी। वह समाज की उपयोगिता तक ही सीमित रही।

समाज का अस्तित्व और अहिंसा

सामाजिक जीवन आवश्यकताओं का विकास और प्रवृत्तियों का विकास है। इसमें से दो विरोधी धाराएं विकसित होती हैं, जैसे :

१. हिंसा और अहिंसा,
२. असत्य और सत्य,
३. चौर्य और अचौर्य,
४. संग्रह और असंग्रह,
५. स्वार्थ और परार्थ।

यदि हिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन उदित होने से पहले ही अस्त हो जाता और यदि अहिंसा आदि तत्त्व ही विकसित होते तो सामाजिक जीवन गतिशील नहीं बनता। इस तथ्य की स्वीकृति वास्तविकता की अभिव्यक्ति मात्र होगी कि हिंसा और अहिंसा— ये दोनों तत्त्व सामाजिक अस्तित्व को धारण किए हुए हैं। ये दोनों भिन्न दिशागामी हैं, इसलिए इन्हें विरोधी धाराएं कहा जा सकता है किन्तु दोनों एक लक्ष्य (समाज-विकास) गामी हैं, इस स्तर पर इन्हें अविरोधी धाराएं भी कहा जा सकता है।

आत्मा का अस्तित्व और अहिंसा

कोई भी विकास एकपक्षीय धारा में अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। हर विकास की प्रतिक्रिया होती है और उसके परिणामस्वरूप प्रतिपक्षी तत्त्व का विकासक्रम प्रारम्भ होता है।

भौतिक अस्तित्व की प्रतिक्रिया ने मनुष्य को आत्मिक अस्तित्व की ओर गतिमान बनाया। उसे इस सत्य की दृष्टि प्राप्त हुई कि चेतन का अस्तित्व अचेतन से स्वतन्त्र है। यह जगत् चेतन और अचेतन—इन दो सत्ताओं का सांसर्गिक अस्तित्व है। उस दिन सामाजिक विकास के सामने आर्थिक विकास और राजतन्त्र के सामने आत्मतन्त्र का प्रथम सूत्रपात हुआ। इस सूत्रपात ने अहिंसा आदि का मूल्य-परिवर्तन कर डाला। सामाजिक अस्तित्व के स्तर पर उनका मूल्य सापेक्ष और ससीम था, वह आत्मिक अस्तित्व के स्तर पर निरपेक्ष और निःसीम हो गया। सामाजिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ था प्राणातिपात का आंशिक निषेध— मनुष्यों तथा मनुष्योपयोगी पशु-पक्षियों को न मारना और न मारने का लक्ष्य था— सामाजिक सुव्यवस्था का निर्माण और स्थायित्व।

आत्मिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ हुआ प्राणातिपात का सर्वथा निषेध— किसी भी प्राणी को न मारना, न मरवाना और मारने वाले का अनुमोदन भी नहीं करना। प्राणातिपात के सर्वथा निषेध का लक्ष्य था मुक्ति अर्थात् आत्मोदय।

मुक्ति का दर्शन जैसे-जैसे विकसित हुआ, वैसे-वैसे अहिंसा की मर्यादा भी व्यापक होती चली गई।

हिंसा का मूल है अविरति

व्यापक मर्यादा में इस भाषा को अव्याप्त माना गया कि प्राणातिपात ही हिंसा है और अप्राणातिपात ही अहिंसा है। वहां हिंसा और अहिंसा की परिभाषा की आधारभूति अविरति और विरति बन गई। अविरति अर्थात् वह मानसिक ग्रन्थि, जो मनुष्य को प्राणातिपात करने में सक्रिय करती है, जब तक उपशान्त या क्षीण नहीं होती तब तक हिंसा का बीज उन्मूलित नहीं होता। इसलिए हिंसा का मूल अविरति है, प्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त हिंसा उस मानसिक ग्रन्थि या अव्यक्त हिंसा के अस्तित्व में ही सम्भव है।

विरति—हिंसा-प्रेरक मानसिक ग्रन्थि की मुक्ति जब हो जाती है तब हिंसा का बीज उन्मूलित हो जाता है। अहिंसा का मूल विरति है, अप्राणातिपात उसका परिणाम है। यह व्यक्त अहिंसा हिंसा-प्रेरक मानसिक-ग्रन्थि की मुक्ति होने पर ही विकासशील बनती है। इस प्रकार आत्मा के अस्तित्व में अहिंसा के अर्थ, उद्गम और लक्ष्य में आमूलचूल परिवर्तन हो गया।

अभय

भगवान् महावीर को ग्रन्थ से अतीत, अभय और अनायु कहा गया है। वे अभय थे इसीलिए उन्होंने अभय का बहुत सुन्दर उपदेश दिया। प्रश्न-व्याकरण सूत्र में उसका जितना मर्मभेदी वर्णन है, उतना अन्यत्र विरल स्थानों में ही होगा। अभय भगवान् महावीर का पहला सूत्र था, क्योंकि वे अहिंसक थे। अहिंसक अभय होता है। जो अभय नहीं होता, वह अहिंसक भी नहीं होता। अभय शब्द हमारे लिए सुपरिचित है। क्योंकि हम साधु हैं, साधना का पथ स्वीकार कर रखा है। साधना यानी मोह का विलीनीकरण। भय मोह से पैदा होता है। वास्तविक भय कम होता है, अधिकांश भय कल्पना-जनित होता है। सन्देह के कारण भय जाग जाता है। मार्ग में गाय खड़ी है। पांच-सात व्यक्तियों को आते देख वह रौद्र रूप धारण कर लेती है। उसके मन में सन्देह होता है कि ये मेरे पर आक्रमण करने आ रहे हैं।

पशु ही नहीं, मनुष्य भी आशंका से दूसरों की हिंसा कर देता है। 'अमुक व्यक्ति मेरा अनिष्ट करेगा'—इस भावी कल्पना में उलझकर वह दूसरों की हिंसा करता है।

भय के हेतु

भय क्या है? अनिष्ट की आशंका उत्पन्न करनेवाली सामग्री। योग और वियोग की आशंका, अनिष्ट और अप्रियता की आशंका ही भय पैदा करती है। ममत्व के साथ भी उसका गहरा संबंध है। स्थानांग सूत्र में भय की उत्पत्ति के चार कारण बतलाये गये हैं :

१. हीनसत्त्व— हीनसत्त्वता; दुर्बलता।
२. भय वेदनीय— संस्कारों का विपाक।
३. मति— भय का मनन।
४. तदर्थोपयुक्तता— भय के चिन्तन में एकाग्रता।

चार कारणों में एक कर्मज है और तीन नोकर्मज हैं। हर व्यक्ति में दुर्बलता होती है, कोई परिपूर्ण नहीं होता। भय अपनी दुर्बलता के कारण ही सताता है।

भय के परिणाम

भय के दो परिणाम बहुत स्पष्ट हैं— रोग और सुख की हानि। सामाजिक जीवन

में भय न हो तो कार्य कैसे चले ? 'लोग क्या कहेंगे ?'— यह भय बहुत बार बुराइयों से बचाता है । सामाजिक जीवन में भय अनावश्यक है, यह कहना कठिन है । सबका जीवन उन्नत नहीं होता, इसलिए यदि किंचित् मात्रा में भय न हो तो व्यवस्था ठीक नहीं चलती ।

अभय और आत्मानुशासन

साधना की दृष्टि से विचार करें तो हमारे मन में भय नहीं होना चाहिए । प्रश्न उठता है— भय नहीं होगा तो अनुशासन-हीनता पनप जाएगी और विघटन का मार्ग खुल जाएगा । यदि भय होता है तो साधना में बाधा आती है ।

कुछ लोग इस भाषा में बोलते हैं— मैं किसी से नहीं डरता । क्या यह अभय है ? ऐसा कहना अभय नहीं, दुःसाहस है । अभय वह होता है जिसके मन में कर्तव्य का बोध जाग जाए, आत्मानुशासन का बीज अंकुरित हो जाए ।

अभय के सूत्र

साधना के क्षेत्र में अभय होने के तीन सूत्र हैं :

१. निर्ममत्व की साधना ।
२. निर्विकल्पता की साधना ।
३. मैत्री ।

निर्ममत्व और निर्विकल्पता का विकास होगा तो भय की साधन-सामग्री अपने-आप क्षीण हो जाएगी । जैसे-जैसे चित्त के केन्द्रीकरण का अभ्यास बढ़ता जाएगा, वैसे-वैसे भय की मात्रा कम होती जाएगी । ध्यान के अभ्यास से क्रोध स्वयं ल्यक्त हो जाता है । कषाय का प्रत्याख्यान कराया नहीं जाता, वह स्वयं हो जाता है । मन पर विजय पाने का अभ्यास करने से वह ल्यक्त हो जाता है । भय, घृणा, ईर्ष्या, लोभ आदि स्वयं मिट जाते हैं ।

कल्पना (सन्देह) कम होने से भय को आगे आने का अवसर नहीं मिलता । भय को भोजन न मिलने से वह अपनी मौत मर जाता है ।

वैदिक ऋषि कहते हैं :

सर्वा आशा मम मित्राणि सन्तु ।

—सब दिशाएं मेरी मित्र हों ।

जैन ऋषि कहते हैं :

मित्री में सच्च भूएसु ।

—सब मेरे मित्र हैं ।

उक्त तीन भावनाओं की आराधना से अभय प्राप्त होता है । जैसे नवनीत मन्थन का परिणाम है, वैसे ही अभय इन तीन भावनाओं की आराधना का परिणाम है ।

प्राणी डरता है दुःख से

एक बार भगवान् महावीर से पूछा गया— ‘भंते ! किं भया पाणा ?’ ‘भगवन् ! प्राणी किससे डरते हैं ?’

‘दुखभया पाणा’—दुख से ।

‘दुक्खे केण कडे ?’—दुख का कर्त्ता कौन है ?

‘पमाएणं’—अपना ही प्रमाद ।’

‘उसका नाश कैसे होता है ?

‘अप्रमाद से ।’

हमारे मन में प्रमाद नहीं होगा तो दुःख का कारण नहीं होगा । दुःख का कारण नहीं होगा तो भय भी नहीं होगा ।

जीवन के दो बिंदु : नीति और अध्यात्म

जीवन एकरस और धारावाही है। उसके टुकड़े नहीं किये जा सकते— यह सच है, किन्तु स्थूल। सूक्ष्म सत्य की दृष्टि से जीवन चैतन्य के धागे में पिरोई हुई भिन्न-भिन्न मोतियों की माला है। उसकी प्रत्येक और प्रत्येक बार की प्रवृत्ति उसे खंड-खंड कर डालती है। देश और काल उसे जुड़ा नहीं रहने देते। स्थितियां अनुस्यूति को सहन नहीं करतीं। मोहन दो वर्ष की आयु में भी मोहन था और आज सौ वर्ष की आयु में भी मोहन है। उसके जीवन का धागा टूटा नहीं, वह टूट जाता तो मोहन क्या बनता, यह हमारी आँखों से परे की बात है। किन्तु मोहन का जीवन-धागा दो वर्ष की आयु में जैसा था वैसा ही सौ वर्ष की आयु में है— यह कौन मानेगा ? वह बदला है और बदलता आया है। यह बदलने की बात भी सच है किन्तु एकान्ततः नहीं। बदलता वही है, जो पहले होता है और आगे भी। जो न आगे होता है और न पीछे, वह बीच में भी नहीं होता— “जस्स नत्थि पुरा पच्छ मज्झे तस्स कुओ सिया।”

सापेक्षता ही जीवन है

भविष्य ही वर्तमान बनता है और वर्तमान ही अतीत। पहले से जो है वही वर्तमान में आता है, वही वर्तमान स्थित बन अतीत में परिणत हो जाता है। काल स्वयं अखंड है। वह अतीत, वर्तमान और भविष्य बनता है पर सापेक्ष होकर। जहां द्वैत है वहां परस्पर सापेक्षता आवश्यक है। एक को समझने के लिए दूसरे को समझना ही होगा। जहां एक ही होता है वहां समझने की स्थिति ही नहीं बनती। एक अनेक-सापेक्ष होता है और अनेक एक-सापेक्ष। इसीलिए एक को समझने के लिए अनेक को और अनेक को समझने के लिए एक को समझने की बात अपने आप आती है— “जो एगं जाणई से सव्वं जाणई, जो सव्वं जाणई से एगं जाणई।” मोहन मित्र-गोष्ठी में बैठ आमोद-प्रमोद का जीवन बिताता है और दूकान में बैठ व्यापारिक उलझन में फंस गंभीर बन जाता है। आमोद-प्रमोद और गंभीरता की समझ मोहन-सापेक्ष है और मोहन की समझ आमोद-प्रमोद और गंभीरता-सापेक्ष। यह सापेक्षता ही जीवन है। जीवन शरीर-सापेक्ष है। शरीर-मुक्त आत्मा में जीवन, मौत जैसा कुछ भी नहीं होता। तर्कवाद का मायाजाल जीवन से गुंथा हुआ है। जहां जीवन नहीं वहां तर्क नहीं होता, वहां तक तर्क पहुंचता ही नहीं— “तक्का तत्थ न विज्जई।”

पुद्गल और चेतना का समन्वय

जीवन के परिपार्श्व में वाणी चलती है, मन उड़ान भरता है। शरीर, वाणी और मन—तीनों की सृष्टि जीवन में होती है। तीनों की सृष्टि जीवन है। पुद्गल के साथ चेतना का जो समन्वय है, वह जीवन है। जीवन निखरता है, रूप, रस, गंध और आकार से। चेतना का आधार अरूप है, अरस है, अंगंध और अनाकार है। जीवन दृश्य है, वह अदृश्य है। जीवन पौद्गलिक है, वह अपौद्गलिक है। जीवन कर्म है, वह कर्ता है, प्राणी है। प्राणी प्राणों से बंधा हुआ है। प्राण आते हैं, चले जाते हैं। प्राणी बंधता है, छूट जाता है। प्राणी नहीं मिटता, प्राण भी नहीं मिटते। प्राणी और प्राण का सम्बन्ध मिट जाता है। फिर प्राणी उन प्राणों का प्राणी नहीं रहता और वे उस प्राणी के प्राण नहीं रहते, यह समझौते की समाप्ति है। यही जीवन का अन्त है। इसी का नाम है मौत। प्राणी व प्राणों की संधि जीवन है। चलना, बोलना और सुनना— ये आत्मा और पुद्गल दोनों के स्वभाव-धर्म नहीं हैं। दोनों मिलते हैं, तीसरी वस्तु निकल आती है। वह न आत्मा है और न पुद्गल ही, उसका अपना नाम है— 'जीवन'। वह आत्मा भी है और पुद्गल भी। वह कर्म और चेतना का समन्वय है, पार्थिव और अपार्थिव की मिली-जुली सरकार है।

जीवन का लक्ष्य

जीवन का लक्ष्य क्या है—यह अगम्य है। लक्ष्य क्या होना चाहिए— यह विचार करने की वस्तु है। लक्ष्य-निर्णय के पूर्व लक्ष्य-निर्णय के स्वरूप का निर्णय आवश्यक है। लक्ष्य-निर्णय का जो चेतन है। वह स्वतंत्र सत्ता है या नहीं— यह प्रश्न चोटी का है। चोटी का इसलिए कि उसको पकड़े बिना नीचे की कल्पनाओं को बढ़ने की दिशा नहीं मिलती। चेतना की स्वतंत्र सत्ता को त्रिकालभावी माननेवाले की जो दिशा होगी वह उसे वर्तमान जीवन पर्यवसित माननेवाले की नहीं होगी। उनके मध्य मिलते लगेंगे, किन्तु उनके छोर दो होंगे। आत्मवादी आध्यात्मिकता या संयम का स्वतंत्र मूल्य जानता है। नीति से आगे जाना चाहिए—यह अनात्मवादी की समझ से परे की बात है। आत्म-शान्ति या सुख-दुःख में सम रहने की वृत्ति के लिए आत्मनिष्ठ सोच सकता है। अनात्म-निष्ठ के लिए वह चिन्तन का विषय नहीं बनता। शुभ-अशुभ कर्म और उसका अवश्यंभावी भोग इस जीवन में या उससे आगे— ये जो अध्यात्म के आधार हैं, वे नीति के नहीं हैं। नीति तात्कालिक या दृश्य लाभालाभ की दृष्टि है अथवा मुख्यतया पौद्गलिक, पदार्थ-परक है। अध्यात्म शाश्वत लाभ का विचार है और वह आत्म-परक है।

सामाजिक जीवन का आधार

किसी युग में सारे मनुष्य आस्तिक और नास्तिक इन दो धाराओं में बंटे हुए थे। वर्तमान में सब लोग सह-अस्तित्व और असह-अस्तित्व की धारा में बंटे हुए हैं। अधिकांश देश सह-अस्तित्व, निःशस्त्रीकरण और समझौता-नीति में विश्वास करते हैं तथा युद्ध से घृणा करते हैं। कुछ देश असह-अस्तित्व और विवाद बढ़ाने में विश्वास करते हैं तथा युद्ध को अनिवार्य मानते हैं। जितने भी विग्रह, कलह या युद्ध होते हैं, वे सब निरपेक्षता से होते हैं।

सामाजिक जीवन का मूल आधार सापेक्षता है। भौगोलिक सीमाओं से विभक्त होने पर भी सब मनुष्य एक ही समाज के अविभक्त अंग हैं। शरीर के अंगों की संस्थान-रचना और कार्य-प्रणाली जैसे भिन्न होती है, वैसे ही समाज के अंग-भूत मनुष्यों की संस्थान-रचना और कार्य-प्रणाली भिन्न होती है। भेद को ही सामने रखकर यदि एक अंग दूसरे से निरपेक्ष होता है, उसकी उपेक्षा करता है, तो अंगी स्वस्थ नहीं रहता। एक की क्षति का फल-भोग समूचे अंगी को, दूसरी भाषा में सभी अंगों को करना पड़ता है।

अंतर्राष्ट्रीयता का अर्थ

आज कोई एक देश दूसरे देश पर आक्रमण करता है, उससे निरपेक्ष व्यवहार करता है या उसकी उपेक्षा करता है तो उसकी प्रतिक्रिया एक छोर से दूसरे छोर तक होती है। वह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन जाता है। अन्तर्राष्ट्रीयता का अर्थ ही सह-अस्तित्व है। उसका आधार है भेद और अभेद का समन्वय। विश्व में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो सर्वथा भिन्न हो या सर्वथा अभिन्न ही हो। भिन्नता और अभिन्नता की समन्विति ही पदार्थ का अस्तित्व है और वही वास्तविक सचाई है। असह-अस्तित्व का सिद्धान्त इसे झुठलाने का प्रयत्न है पर वह सफल नहीं हो सकता। मनुष्य के अस्तित्व का आधार सह-अस्तित्व ही हो सकता है। असह-अस्तित्व का सिद्धान्त एक मानसिक उन्माद है। एक दिन हिटलर इससे ग्रस्त हुआ और दूसरा महायुद्ध छिड़ गया।

यांत्रिक नहीं है मनुष्य

असह-अस्तित्व में विश्वास करने का अर्थ है, शस्त्रीकरण तथा युद्ध में विश्वास, समझौता-नीति और सापेक्षता में अविश्वास। मनुष्य यदि यांत्रिक होता तो वह एक ही

प्रकार से सोचता और एक ही प्रकार से काम करता परन्तु वह यांत्रिक नहीं है। वह अपनी पूर्ण चैतन्य-सत्ता का उपभोक्ता है इसलिए वह अपने-आप में पूर्ण स्वतंत्र है। वह एक ही प्रकार से नहीं सोचता और एक ही प्रकार से नहीं करता। वह उसकी सहज प्रवृत्ति है। किन्तु मनुष्य मनुष्य-जाति की इस सहज प्रवृत्ति को ही सुलह या युद्ध का हेतु बना रखा है।

सापेक्षता में अविश्वास करने वाले इस बात को भुला देते हैं— 'मनुष्य यांत्रिक नहीं है। वह अपनी पूर्ण चैतन्य-सत्ता का उपभोक्ता है।' इस विस्मृति का परिणाम ही असह-अस्तित्व है। जिनको सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं है, उन्हें मानवता में विश्वास नहीं है। उनका विश्वास मनुष्य को यांत्रिक बनाने में ही है। किन्तु यह मनुष्य-जाति के प्रति बहुत जघन्य अपराध है।

सह-अस्तित्व का अर्थ है—मनुष्य के सोचने, करने तथा अपने ढंग से चलने की स्वतन्त्रता में विश्वास। 'या मैं या तुम' यह विनाश का मार्ग है विकास का मार्ग यह है कि 'मैं भी रहूँ और तुम भी रहो'।

चिन्तन का क्षितिज

[साप्ताहिक हिन्दुस्तान (२ जुलाई १९८९) में अध्यात्म स्तंभ के अंतर्गत 'महाप्रज्ञ उवाच' शीर्षक से आचार्यश्री महाप्रज्ञ के चिन्तन की मौलिकता के कुछ बिन्दु प्रकाशित हुए। प्रस्तुत आलेख में वह अविकल रूप में प्रस्तुत है।।

—संपादक

अध्यात्म का रहस्य

बहुत विचित्र घटनाएं घटित होती हैं। मन में कोई भी विकल्प उठा, एक विचार आया और हमने उसकी उपेक्षा कर दी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह बीज बो दिया गया और बीज जब बड़ा होगा तो निश्चित ही अपना परिणाम लाएगा। हम दुनिया की घटनाओं को देखें। पचास-साठ वर्ष तक जिस व्यक्ति का जीवन यशस्वी रहा, जिस व्यक्ति का पूर्वार्द्ध पूर्ण तेजस्वी और उदितोदित रहा, वही व्यक्ति अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में पतित हो गया, नष्ट हो गया। हमें आश्चर्य होता है कि यह कैसे हुआ? जो व्यक्ति पचास-साठ वर्ष तक यशस्वी और तेजस्वी जीवन जी लेता है वह आगे के वर्षों में पतन की ओर कैसे जा सकता है। हम सामान्यतः इसकी व्याख्या नहीं कर सकते। किंतु ऐसा घटित होने के पीछे भी कुछ कारण अवश्य होते हैं। यदि हम सूक्ष्मता से ध्यान दें, गहराई से सोचें तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि बीज बोया गया था, उसका प्रायश्चित्त नहीं हुआ, वह वृक्ष बन गया, घटना घटित हो गयी।

प्रायश्चित्त यही ता है कि जिस क्षण मन में राग का संस्कार उत्पन्न हुआ, जिस क्षण मन में द्वेष का संस्कार उत्पन्न हुआ, उसे धो डालो, सफाई कर दो, परिवर्तन कर दो। फिर वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह सताएगा नहीं। बीज को नष्ट कर दिया, वह वृक्ष नहीं बन पाएगा। प्रायश्चित्त नहीं होता है तो बीज को पनपने का मौका मिल जाता है। अंकुरित होने का मौका मिल जाता है। कालान्तर में वह वृक्ष बन जाता है, उसके फल लग जाते हैं, उसकी जड़ें जम जाती हैं। अब हमारे वंश की बात नहीं रहती। हमें उसके फल भुगतने ही पड़ते हैं। फल भुगतने के लिए हमें बाध्य होना पड़ता है।

अध्यात्म का बहुत बड़ा रहस्य है कि हम उस क्षण के प्रति जागरूक रहें, जिस क्षण में राग और द्वेष के बीज की बुवाई होती है।

दो मुख्य केन्द्र

शरीर में दो मुख्य केंद्र हैं। एक है काम-केंद्र और दूसरा है ज्ञान-केंद्र। नाभि के नीचे का स्थान काम केंद्र है, वासनाकेंद्र है। मस्तिष्क है ज्ञानकेंद्र। हमारे शरीर में ऊर्जा का एक ही प्रवाह है। जहां मन जाएगा, वहां ऊर्जा जाएगी, जहां मन जाएगा, वहां प्राण जाएगा। यदि हमारा मन, हमारा चिंतन कामकेंद्र की ओर ज्यादा आकर्षित होता है तो उसे बल मिलेगा, शक्ति मिलेगी और वह समृद्ध होगा। प्रकृति का यह अटल नियम है कि जिसे सिंचन मिलता है, वह पुष्ट होता है, जिसे सिंचन नहीं मिलता, वह सूख जाता है, नष्ट हो जाता है। जिसे सिंचन प्राप्त है, वह बढ़ता है, फलता-फूलता है। जिसे सिंचन प्राप्त नहीं है, वह टूट जाता है, टूट मात्र रह जाता है। हमारी ऊर्जा का जिसे सिंचन मिलेगा, वह अवश्य पुष्ट होगा, बढ़ेगा, फलेगा-फूलेगा फिर चाहे वह कामकेंद्र को मिले। यदि हमारा चिंतन नीचे की ओर जाता है, कामकेंद्र की ओर जाता है तो हमारी ऊर्जा का प्रवाह उस ओर मुड़ जाता है। हमारी सारी प्राण शक्ति उसी ओर प्रवाहित होने लग जाती है। तब कामकेंद्र बलवान होता जाता है और ज्ञानकेंद्र कमजोर होता जाता है। यह है लौकिक चित्त की प्रक्रिया। यह है लौकिक चित्त का कार्य। लौकिक चित्त सदा कामना को पुष्ट करता है, कामकेंद्र को सिंचन देता है, बलवान बनाता है! हम यह भली भांति जानते हैं कि मनुष्य के जीवन में कामना का जितना तनाव होता है उतना तनाव किसी का भी नहीं होता। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से निरंतर रहने वाला तनाव है। क्रोध का आवेग कभी-कभी होता है, लोभ की चेतना कभी-कभी होती है, किंतु काम की चेतना निरंतर रहती है। जब हमारी चेतना कामकेंद्र की ओर अधिक बढ़ने लगती है तब सहज ही ज्ञानकेंद्र की शक्तियां क्षीण होती जाती हैं। साधना से इसे उलटना होता है। जो साधक अपने ज्ञान का विकास चाहता है, जो निर्मलता चाहता है, उसे चेतना के प्रवाह को उलटना होगा, मोड़ना होगा। अर्थात् मन को ऊपर की ओर ले जाना होगा।

मूल्यांकन का मार्ग

हम इस दुनिया में सत्य और भ्रांति के चक्र में पड़े हुए हैं। धर्म का सारा मार्ग सत्य की खोज के लिए है। आदिकाल से मानव सत्य की खोज करता चला आ रहा है। साथ-साथ भ्रांति भी चल रही है। यह चलती रहेगी। यदि भ्रांति साथ-साथ नहीं चलती तो धर्म की आज कोई अपेक्षा ही नहीं रह जाती। किंतु जैसे-जैसे धर्म का विस्तार हुआ है, वैसे-वैसे भ्रांति का भी विस्तार हुआ है। हम धर्म और अध्यात्म की बात करते हैं सत्य की उपलब्धि के लिए। आदमी सोने का मूल्य कर सकता है, पर मिट्टी का नहीं। क्योंकि वह इतनी सहज और सुलभ है कि हर आदमी उसे प्राप्त कर सकता है। यह सच है

कि सोने की तुलना में मिट्टी का मूल्य हजार गुना अधिक है। सोना आदमी को मार सकता है, पर मिट्टी ने न जाने कितने मरने वालों को उबारा है। फिर भी मिट्टी का मूल्य नहीं आंका जा सकता क्योंकि वह सहज है, सुलभ है। हम रोटी का मूल्यांकन करते हैं क्योंकि रोटी हमारा जीवन है। परंतु जो सचमुच जीवन है, उसका हम कभी भी मूल्यांकन नहीं करते। वह है प्राण। वह है हमारा स्वास्थ्य। साधना की पद्धति मूल्यांकन का ही मार्ग है।

अध्यात्म और संप्रदाय

जहां मतभेद का प्रश्न है वहां हजार संप्रदाय हो जाते हैं। लोग कहते हैं—संप्रदाय न हों। मैं इस भाषा में सोचता हूं कि हजारों संप्रदाय हों। हर व्यक्ति का एक संप्रदाय हो। अध्यात्म ही एक ऐसा विकल्प है जहां कोई संप्रदाय-भेद नहीं है। साधना और अध्यात्म में कोई संप्रदाय-भेद नहीं होता।

साधना का सबसे बड़ा योग है ध्यान। ध्यान का अर्थ है—निर्विकल्पता, जहां कोई विकल्प नहीं, विवाद नहीं। इसमें मतवाद का प्रश्न ही नहीं उठता। साधना में मुंह बंद होता है, कान बंद होते हैं, आंखें बंद होती हैं, फिर वहां विवाद का प्रश्न ही कैसे उठेगा? हमारी जो नैतिकता की पूंजी है, उसकी मूल पृष्ठभूमि है—अध्यात्म। अध्यात्म के आधार पर ही नैतिकता विकसित हो सकती है। आज हमारा सारा ध्यान शरीर-केंद्रित हो गया। मूल है मन। उसकी हम उपेक्षा करते चले जा रहे हैं। हमें सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व है—मन

आत्मा और प्राण

दो वस्तुएं हैं—आत्मा और प्राण। एक है आत्मशक्ति और एक है प्राणशक्ति। एक है प्राणबल और एक है आत्मबल। हमारा लक्ष्य है—आत्मोपलब्धि। हम आत्मा के मूल स्तर तक पहुंचना चाहते हैं, आत्मा को पाना चाहते हैं, मूल चेतना तक पहुंचना चाहते हैं। यह है हमारा मूल लक्ष्य। इससे पहले आता है प्राण। उसका स्थान इससे पूर्व है। आत्मा तक कौन पहुंच पाता है, आत्मा तक वही पहुंच पाता है, जो प्राणवान् है, जो शक्तिशाली है। जिसका मनोबल उंचा है, जिसका संकल्प-बल प्रबल है वह पहुंच सकेगा आत्मा तक। जिसकी इच्छाशक्ति प्रबल है वह आत्मा तक पहुंच पाएगा। जिसका मनोबल क्षीण है, जिसका संकल्पबल क्षीण है, जिसकी इच्छाशक्ति, प्राणशक्ति दुर्बल है, जो वीर्यहीन है वह कभी आत्मा को नहीं पा सकता। आत्मा को पाने के लिए प्राण को शक्तिशाली बनाना जरूरी है। जो जाप का स्तर है, वह प्राण के स्तर पर चलने वाला क्रम है। यह प्राण को शक्तिशाली बनाता है। प्राण हमारी विद्युत् शक्ति होती है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं होता। जिसमें यह शक्ति न हो। हमारी सारी सक्रियता, चंचलता, हमारा उन्मेष और निमेष, हमारी वाणी, हमारा चिंतन, हमारी गति, हमारी दीप्ति, हमारा

आकर्षण—ये सब प्राण के आधार पर होते हैं, विद्युत् शक्ति के आधार पर होते हैं। विद्युत् ही ये सारे कार्य निष्पन्न करती है। विद्युत् को बढ़ाना मनोबल को बढ़ाना है। जिसकी विद्युत् तीव्र होती है उसका मनोबल बढ़ जाता है। जिसकी विद्युत् क्षीण होती है उसका मनोबल घट जाता है।

हिंसा अज्ञान में नहीं होती है। कोई भी अज्ञानी कभी हिंसा नहीं कर सकता। हिंसा ज्ञानवान् प्राणी करता है, जीव करता है। ज्ञानवान् जीव करता है। हिंसा भी ज्ञान में होती है। और असत्याचरण भी ज्ञान में ही होता है। चोरी भी ज्ञान में होती है। वासनाएं और दुर्भावनाएं भी ज्ञान की सीमा में होती हैं।

एकता के प्रयत्न

प्राणीमात्र की एकता का लघु संस्करण है मानवीय एकता। मानवीय एकता का लघुतर संस्करण है राष्ट्रीय एकता। राष्ट्रीय एकता का लघुतम संस्करण है सामाजिक एकता। प्राणीमात्र की एकता पर्यावरण की सुरक्षा का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। मानवीय एकता शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का मौलिक सूत्र है। राष्ट्रीय एकता विकास का उपादान सूत्र है। सामाजिक एकता सद्भावना का आधारसूत्र है। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने इन चारों स्तरों पर काम किया है। उनका मत है— व्यापक हित को ध्यान में रखे बिना सीमित हित को भी साधा नहीं जा सकता।

समस्या पर्यावरण की

पर्यावरण की समस्या जागतिक समस्या है। इस समस्या के समाधान का रचनात्मक पहलू माना जाता है पर्यावरण प्रदूषण को मिटाने के साधनों का विकास किन्तु इसका नकारात्मक पहलू अधिक मूल्यवान् है। अनावश्यक हिंसा, जंगलों की कटाई, पानी का अपव्यय, भूमि का अतिरिक्त दोहन—ये सब चले और प्रदूषण को मिटाने के लिए कुछ विकल्प खोजे जाएं। इन दोनों में संगति नहीं है। तथ्य को ध्यान में रखकर अनावश्यक हिंसा के दर्जन पर बल दिया गया।

मानवीय एकता : बाधक तत्व

मानवीय एकता का बाधक तत्व है राष्ट्रवाद, अथवा राष्ट्रीय कट्टरता। अपने राष्ट्र की समृद्धि के लिए दूसरे राष्ट्र के हितों को कुचलना— यह कूटनीति का चातुर्यपूर्ण जाल है। इस जाल को फैलाने में अनेक राष्ट्र लगे हुए हैं। अणुव्रत ने राष्ट्रवाद की सीमा को लांघकर मानवीय एकता का संदेश जन-जन तक पहुंचाया।

राष्ट्रीय एकता का प्राणतत्व

राष्ट्रीय एकता कोई राजनीति अथवा चुनावी घोषणा पत्र नहीं है। भाषा, प्रान्त, जाति और सम्प्रदाय की भेदधारा में सांस्कृतिक अभेद-स्थापना ही राष्ट्रीय एकता का प्राणतत्व है। गुरुदेव ने आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का उन्नयन कर राष्ट्रीय एकता की आधारभित्ति को परिपुष्ट किया है। वास्तव में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की

विस्मृति ही राष्ट्रीय एकता विखण्डन करती है। उसकी स्मृति अथवा चेतना जागृत रहे, तो राष्ट्रीय एकता कभी विखण्डित नहीं हो सकती। अनेक सम्प्रदायों के तुमुलरव में धर्म की आवाज सुनाई नहीं देती। इस दशा में सम्प्रदाय-विहीन या मानवधर्म की आवाज को बुलन्द करना सचमुच एक सूझ-बूझ पूर्ण और साहसिक कदम है !

विरोध राजनीति की भाषा से

अन्नामलै युनिवर्सिटी में पूज्य गुरुदेव ने नैतिक मूल्यों के विकास पर एक प्रवचन किया। उन दिनों तमिलनाडु में हिन्दी विरोधी आन्दोलन पूरे वेग पर था और उस युनिवर्सिटी के छात्र उसकी अगुवाई कर रहे थे। कुलपति ने अनुरोध किया, आप अंग्रेजी में प्रवचन करें। गुरुदेव ने अस्वीकार कर दिया। उनका पुनः अनुरोध था— आप संस्कृत में प्रवचन करें। गुरुदेव ने उसे भी नहीं स्वीकारा और साफ-साफ कहा— यदि प्रवचन होगा तो हिन्दी में होगा अन्यथा नहीं होगा। आखिर हिन्दी में प्रवचन हुआ। प्रवचन का प्रारंभ इस वाक्य से हुआ— मैं तमिल नहीं जानता। यदि जानता तो तमिल में प्रवचन करता। अब मेरी इस असमर्थता को क्षमा करेंगे। भाषा पर नहीं, भावना पर ध्यान देंगे।

भावना की अजस्रधारा में भाषा का प्रश्न प्रवाहित हो गया। पुनः एक बार और प्रवचन करने का आग्रह छात्रों ने किया। सब आश्चर्य की मुद्रा से देख रहे थे। कुलपति स्वयं आश्चर्य निमग्न थे। छात्रों ने कहा— आपकी भाषा हृदय की भाषा है। इससे हमारा कोई विरोध नहीं है। हमारा विरोध केवल राजनीति की भाषा से है।

संदर्भ चुनाव का

राजनीति ने चाहे अनचाहे राष्ट्रीय एकता पर काफी प्रहार किए हैं। चुनावी राजनीति भेद के अणुओं से निर्मित हुई है और उसकी परिणति है विखण्डन। जातीय एकता, साम्प्रदायिक सद्भावना के सारे प्रयत्न चुनाव के दिनों में धराशायी हो जाते हैं। जातिवाद और सम्प्रदायवाद को उन दिनों जितना उभारा जाता है, उतना शायद कभी नहीं। इस सचाई का अनुभव कर पूज्य गुरुदेव ने एक गोष्ठी का आयोजन किया।

२२ दिसंबर १९५९ का दिन। कांस्टीट्यूशन क्लब, कर्जन रोड, नई दिल्ली। अखिल भारतीय राजनैतिक दलों के नेताओं की परिषद का आयोजन। आयोजक अणुव्रत समिति। सन्निधि गुरुदेव श्री तुलसी की। उसमें भाग ले रहे थे, चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस अध्यक्ष श्री यू० एन० डेबर, साम्यवादी नेता श्री ए० के० गोपलन, प्रजा समाजवादी नेता आचार्य जे० बी० कृपलानी आदि।

पूज्य गुरुदेव ने अपने आदि वचन में कहा—यदि चुनाव में अनैतिक आचरण हो तो उससे फलित होने वाला जनतंत्र पवित्र नहीं हो सकता। अणुव्रत आन्दोलन का लक्ष्य है नैतिकता या चरित्र की प्रतिष्ठा। चुनाव में भी नैतिकता को बल मिले, इस उद्देश्य से आज की परिषद् आयोजित है। किसी राजनीतिक दल या पक्ष से हमारा संबंध नहीं

है। आदि वचन के अनन्तर गुरुदेव ने चुनाव की आचार-संहिता सबके सामने रखी।

चुनाव मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन ने कहा— मुझे बहुत प्रसन्नता है कि इस परिषद् में सब राजनैतिक दलों के नेता सम्मिलित हुए हैं। चुनाव में हमारे देश के वे आदर्श प्रतिबिम्बित हैं, जिन्हें हम सदियों से मानते आ रहे हैं। उन्होंने आचार्यजी से निवेदन किया कि मतदाता की आचार-संहिता में दो व्रत जोड़े जाएं :

१. मैं वोट अपने अंतरात्मा की आवाज के अनुसार दूंगा, देश के लाभ को सोचते हुए दूंगा।
२. मैं उस उम्मीदवार को वोट नहीं दूंगा, जो उम्मीदवार की आचार-संहिता के लिए कृतसंकल्प नहीं है।

कांग्रेस अध्यक्ष श्री डेबर ने साध्यशुद्धि के साथ साधनशुद्धि में भी विश्वास व्यक्त किया और विश्वास दिलाया कि हमारा दल इस कार्य में पूरा सहयोग करेगा। साम्यवादी नेता श्री गोपालन संकल्प की भाषा में बोले—यदि मैं अपनी पार्टी की ओर से चुनाव लड़ूंगा तो इन नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करता हूँ। मेरी पार्टी में इस आचार-संहिता के प्रतिकूल कोई व्यवहार देखे तो हम उसे रोकने का प्रयत्न करेंगे। श्री गोपालन ने सुझाव दिया— चुनाव अधिकारियों के लिए भी आचार-संहिता होनी चाहिए, जैसे—मैं चुनाव कार्य में सचाई व नैतिकता का व्यवहार करूंगा।

आचार्य कृपलानी ने आचार-संहिता का स्वागत किया, अपनी ओर से एक सुझाव भी प्रस्तुत किया। उम्मीदवार और मतदाता के लिए जैसे आचार-संहिता हैं, वैसे ही दल की कार्यकारिणी के सदस्यों तथा मंत्रियों के लिए भी आचार-संहिता होनी चाहिए। हम जातीयता व साम्प्रदायिकता के आधार पर टिकट नहीं देंगे तथा चुनाव में सरकारी साधनों का उपयोग नहीं करेंगे। परिषद् में प्राप्त सुझावों को जोड़कर आचार-संहिता का समर्थन किया गया।

सत्ता और संपत्ति के प्रति जितना आकर्षण है, उतना नैतिकता के प्रति नहीं है। इसीलिए इस आचार-संहिता का अनुपालन नहीं हुआ। फिर भी इस प्रयत्न का अपना मूल्य है। धर्म के मंच से जनतंत्र की एक जटिल समस्या का समाधान प्रस्तुत करना अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है।

समस्या हिंसा और परिग्रह की

हिंसा की प्रबलता होती है, राष्ट्रीय एकता का विखण्डन। समाज, राष्ट्र या मानव उन्हें जोड़ने का एक ही साधन है और वह है अहिंसा। असंतुलित अर्थव्यवस्था हिंसा को बढ़ावा देती है। हिंसा और अर्थसंग्रह—दोनों में तादात्म्य संबंध है। हिंसा को परिग्रह की भाषा में और परिग्रह को हिंसा की भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है। परिग्रह और हिंसा की समस्या को केवल दण्डशक्ति से नहीं सुलझाया जा सकता।

पूज्य गुरुदेव श्री गंगाशहर (बीकानेर) विराज रहे थे। प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी ने राजीव गांधी को गुरुदेव के पास भेजा। आचार्यश्री ने चिन्तन के प्रसंग में कहा— आप इन्दिराजी को बताएंगे कि केवल समाज व्यवस्था के बदलने से समस्या का समाधान नहीं होगा और केवल हृदय परिवर्तन से भी समस्या का समाधान नहीं होगा। समाज व्यवस्था, और हृदय— दोनों के परिवर्तन का प्रयत्न एक साथ चले, तभी परिवर्तन की प्रक्रिया आगे बढ़ सकती है।

एकता का महान् सूत्र

एकता का सबसे बड़ा सूत्र है हृदय परिवर्तन। इसे ध्यान में रखकर अहिंसा प्रशिक्षण की पद्धति का विकास किया गया। इसे विश्वमंच पर प्रस्तुत करने के लिए दो अन्तर्राष्ट्रीय कॉन्फ्रेंस आयोजित की गईं। पहली कॉन्फ्रेंस ५ से ७ दिसंबर १९८९ को जैन विश्व भारती, लाडनूं में तथा दूसरी कॉन्फ्रेंस १७ से २१ फरवरी १९९१ को राजसमन्द में आयोजित हुई। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के सान्निध्य में संपन्न उस गोष्ठी का निष्कर्ष था— अहिंसा के क्षेत्र में काम करने वाली संस्थाओं का संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक मंच हो, अपना संयुक्त राष्ट्रसंघ हो। अहिंसा के क्षेत्र में प्रयोग और प्रशिक्षण का विशिष्ट अभिक्रम चले। अहिंसा के प्रशिक्षण की इस वार्ता ने विश्व-मानस को बहुत प्रभावित किया।

संघर्ष शांति में बदल गया

पूज्य गुरुदेव एकता के लिए सदा प्रयत्नशील रहे। आपने जैन एकता के लिए पंचसूत्री कार्यक्रम का प्रतिपादन किया और उसके लिए अनेक प्रयत्न भी किए। एकता एक लक्ष्य है, संकल्प है। वह कोई आरोपण नहीं है। मेवाड़ की घटना है। एक छोटा-सा गांव। पहाड़ों से घिरा हुआ। वहां बैलगाड़ी का जाना भी मुश्किल होता है। चट्टानी पहाड़ियों को पार कर गुरुदेव वहां पहुंचे। दो भाइयों के बीच संघर्ष चल रहा था। गुरुदेव ने बड़े भाई से कहा— तुम इस संघर्ष को समाप्त कर दो। वह बोला— गुरुदेव ! मैं आपका भक्त हूं। आप कहें तो मैं धूप में खड़ा सूख जाऊंगा पर इस संघर्ष को समाप्त नहीं करूंगा। आखिर हृदय-परिवर्तन हुआ और संघर्ष शान्ति में बदल गया।

इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार समिति ने एकता के प्रयत्न का मूल्यांकन किया। अध्यात्म और नैतिकता के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों ने अनुभव किया कि इससे नैतिकता को और अधिक बल मिलेगा?।

1. पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी को 1992 का इन्दिरागांधी राष्ट्रीय एकता पुरस्कार प्रदान किया गया उस संदर्भ में लिखा गया है प्रस्तुत निबंध।

पूज्य की पूजा का व्यतिक्रम न हो

‘गांधी को गाली मत दो । गांधी ने मानव कल्याण के लिए बहुत काम किए हैं । यदि गांधी को छोटा करना है तो बड़ी रेखा खींचो । पहली रेखा अपने आप छोटी हो जाएगी ।’ अणुव्रत अनुशास्ता का यह विचार मानव-जाति की एकता की ओर इंगित करता है । आदम युग में मानव जाति एक थी । उसमें कोई भेदभाव नहीं था । जैसे-जैसे सत्ता, धन और बुद्धि का अहंकार बढ़ा, वैसे-वैसे मानव जाति विभक्त होती गई । ऊंच-नीच और छुआछूत का भेद आ गया । मानव-जाति के विभक्तीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गई । सहस्राब्दियों तक यह क्रम चला और इसे धर्मग्रन्थों का समर्थन मिलने लगा । श्रमण परंपरा के आचार्यों ने इस समस्या को गंभीरता से अनुभव किया ।

एक है मनुष्य जाति

ढाई हजार वर्ष पहले महावीर ने कहा— ‘एक्का मणुस्स जाई’— मनुष्य जाति एक है । उस समय भारतीय तत्व चिन्तन की दो धाराएं चल रही थीं— श्रमण धारा और ब्राह्मण धारा । ब्राह्मण धारा जन्मना जाति का समर्थन कर रही थी । महावीर और बुद्ध श्रमण परंपरा के प्रवचनकार थे । उन्होंने कर्मणा जाति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । श्वपाक पुत्र हरिकेश बल महावीर के शासन में दीक्षित थे । उनके एक घटनाप्रसंग को लेकर कहा गया— तपस्या की विशेषता है, जाति की कोई विशेषता नहीं है । यदि कर्मणा जाति की अवधारणा चालू रहती तो न छुआछूत की भावना पनपती, न जातिवाद का उन्माद होता और न भारतीय समाज टूटता । उच्च या अभिजात वर्ग के अहंकार ने जन्मना जाति की अवधारणा को संपुष्ट किया । उसी की प्रतिक्रिया विशुद्ध भारतीय धरातल पर हो तो माना जा सकता है कि श्रमण परंपरा का जन्मना जाति के विरोध में उठा स्वर वर्तमान युग में फिर शक्तिशाली हो रहा है । यदि वह स्वर राजनीति की संप्रेरणा से संप्रेरित है तो उसकी प्रतिक्रिया सामयिक हो सकती है । मानवीय हित की शाश्वत धारा में उसका प्रवाह नहीं देखा जा सकता ।

चर्चा के दो ध्रुव

वर्तमान चर्चा में महात्मा गांधी और डा. अम्बेडकर दो ध्रुव बन गए हैं, इन दोनों को राजनीति के क्षितिज पर देखा जा रहा है । मानव जाति की एकता का प्रश्न राजनीति

के स्तर पर कभी सुलझा नहीं सकता। मत और अधिकार पाने के लिए जातियों का जो समीकरण होता है, वह मानव की एकता को तोड़ सकता है, जोड़ नहीं सकता। धर्मशास्त्रों के आधार पर मानवीय एकता की स्थापना का प्रश्न सरल नहीं है। इस जातिप्रथा की समस्या को सामाजिक स्तर पर ही सुलझाया जा सकता है।

दैशिक और कालिक व्यवस्था

वर्णाश्रम व्यवस्था और जाति व्यवस्था—दोनों सामाजिक हैं। इनसे धर्म और धर्मशास्त्र का कोई संबंध नहीं है। धर्म सार्वभौम नियमों से जुड़ा हुआ है। वर्णाश्रम और जाति की व्यवस्था दैशिक और कालिक है। सब देशों में वह समान नहीं होती। इस दैशिक और कालिक व्यवस्था को सार्वभौम रूप देने के कारण ही वर्तमान समाज-व्यवस्था में उलझनें पैदा हुईं। वर्तमान समाज-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्था में वर्णाश्रम व्यवस्था उपयोगी नहीं है। जाति-व्यवस्था भी सार्थक नहीं है। अब जो जाति व्यवस्था है, वह जाति का ध्वंसावशेष मात्र है।

अतात्विक है जातिवाद

महावीर और बुद्ध ने जातिवाद के विरोध में आवाज उठाई, उसका आधार समतावाद था। महावीर ने प्राणिमात्र में आत्मा की समानता को तात्विक बतलाया। उनकी दृष्टि में जातिवाद अतात्विक था। महावीर और बुद्ध का जातिवाद के विरोध में उठा स्वर लुप्त नहीं हुआ, उसके प्रकंपन निरंतर काम करते रहे। विचार विनष्ट नहीं होता। वह आकाशिक रिकार्ड में जमा रहता है। उसके प्रकंपन विभिन्न व्यक्तियों के मस्तिष्क को प्रकंपित करते रहते हैं। ढाई हजार वर्ष की लम्बी अवधि में अनेक संत और समाज सुधारक हुए, जिन्होंने जातिवाद का विरोध किया। यह स्वीकार करना इतिहास के प्रति अन्याय नहीं है।

प्रगाढ संस्कार

मनु ने समाज को व्यवस्था दी। स्मृतिग्रन्थों में सामाजिक व्यवस्था का विशद विवरण उपलब्ध है। जैन और बौद्ध साहित्य में समाज-व्यवस्था का निरूपण नहीं है। जाति व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही एक अंग है। जैन आचार्यों ने समाज-व्यवस्था के परिवर्तनशील नियमों को शाश्वत नहीं माना। उनकी दृष्टि में जाति व्यवस्था भी सामयिक है, शाश्वत नहीं है। समाज की वर्तमान अपेक्षाओं पर अतीत का बोझ लादने का अर्थ कभी सुखद नहीं होता। हिन्दू समाज के अनेक आचार्यों ने जातिवाद और वर्ण व्यवस्था को तात्विक रूप में स्वीकार किया। फलस्वरूप अमुक-अमुक जातियों को निम्न और अच्छूत मानने की धारणा बद्धमूल हो गई। संस्कार इतना प्रगाढ बन गया कि बहुत सारे शिक्षित व्यक्ति भी इस धारणा से ग्रस्त हैं।

राजनीतिक हितों से ऊपर उठें

शिक्षा और आर्थिक विकास ने निम्न कहलाने वाले वर्ग में प्रतिक्रिया को जन्म दिया और उसे अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। उस प्रतिक्रियात्मक वातावरण में हिन्दू समाज की एकता सुरक्षित रखने के लिए महात्मा गांधी ने अभिनव प्रयत्न शुरू किए। उन्होंने महावीर और बुद्ध की परंपरा को आगे बढ़ाया। निम्न वर्ग के लिए सामाजिक समानता की भूमिका तैयार की। जातीय घृणा और छुआछूत को दूर करने के अनेक संकल्प और प्रारूप प्रस्तुत किए। इस प्रयोग श्रृंखला की एक कड़ी है 'हरिजन' शब्द का पुनरुच्चार। महात्मा गांधी से पहले भक्त के लिए हरिजन शब्द का प्रयोग संतों ने किया, वह निम्न वर्ग के प्रयोग में आने लगा। हम जाति व्यवस्था को स्वीकार नहीं करते, इसलिए हमारी दृष्टि में कोई भी जाति उच्च या निम्न नहीं है। किन्तु जिस समाज-व्यवस्था में उच्च और निम्न की कल्पना है, उसमें उच्च और निम्न शब्दों का व्यवहार भी है। इस व्यवहार को बदलने के लिए वाचक शब्दों को बदलना भी जरूरी लगा और वैसा किया। हमारी दृष्टि में समाज को विभक्त करने वाला कोई भी शब्द समानता की भूमिका को पुष्ट नहीं करता। वह दो जातियों अथवा वर्गों में भेदरेखा खींचता है। जाति और वर्ग की मानसिकता जड़ जमाए हुए है। उसे एक झटके में उखाड़ देना संभव नहीं रहा। अनेक युगों में अनेक प्रयत्न हुए हैं। अनेक महापुरुषों ने उनकी जड़ों पर मृदु या कठोर प्रहार किए हैं। उन प्रयत्न करने वालों में महात्मा गांधी एक हैं। राजनीतिक हितों से ऊपर उठकर ही यथार्थ को देखा जा सकता है। राजनीति, चुनाव और सत्ता— राष्ट्रीय विकास और प्रगति के लिए केवल यह त्रिकोण ही पर्याप्त नहीं है। उसके लिए त्याग, संयम, नैतिकता और चरित्र का चतुष्कोण भी जरूरी है। पूज्य की पूजा का व्यतिक्रम नहीं होना चाहिए।

समीचीन बने धन के प्रति दृष्टिकोण

प्रत्येक आदमी सुख से जीना चाहता है। सुख का साधन है सुविधा। सुविधा का साधन है अर्थ। अर्थ के प्रति बहुत आकर्षण है। वह इसलिए है कि अर्थ से जो सुविधा की सामग्री चाहिए, वह मिल जाती है। सुविधा के प्रति आकर्षण इसलिए है कि उससे सुख का अनुभव होता है। शिखर की सच्चाई यह है कि अर्थ के प्रति आकर्षण बहुत है। तलहटी की सच्चाई यह है कि सुख के प्रति बहुत आकर्षण है।

आर्थिक स्पर्धा का युग

अर्थ के अभाव में जीवन की आवश्यकताएं ठीक पूरी नहीं होतीं। भोजन, मकान, कपड़े, शिक्षा और चिकित्सा—इन सबकी सम्यक् पूर्ति आर्थिक विकास के द्वारा ही हो सकती है। आर्थिक स्पर्धा का युग है। उसका प्रवर्तन सुविधावाद ने किया है। एक व्यक्ति के पास अर्थ है, उसका लड़का अच्छे स्कूल में पढ़ सकता है। दूसरे व्यक्ति के पास इतना अर्थ नहीं है कि वह अपने लड़के के लिए शिक्षा की अच्छी व्यवस्था कर सके। चिकित्सा के क्षेत्र में भी यही समस्या है। इस समस्या की भूमि में ही आर्थिक स्पर्धा के बीज अंकुरित होते हैं।

आर्थिक विकास का नियम आर्थिक स्पर्धा को मुक्त आकाश देता है। अधिक इच्छा, अधिक स्पर्धा और अधिक उत्पादन आर्थिक विकास के मुख्य स्रोत हैं। अभाव या गरीबी की समस्या से निपटने के लिए इनका होना अति आवश्यक है।

अपरिग्रह का सिद्धांत है— इच्छा का संयम, स्पर्धा पर नियंत्रण। क्या यह सिद्धांत गरं बी की ओर ले जाने वाला नहीं है? समाज के पिछड़ेपन को बनाए रखने का हेतु नहीं है? अर्थशास्त्र और अपरिग्रह के सिद्धान्तों और नियमों में प्रत्यक्ष विरोधाभास है। अर्थशास्त्र के नियम सामाजिक विकास की कल्पना से जुड़े हुए हैं। अपरिग्रह के नियम अन्नर्जगत् के विकास की कल्पना से जुड़े हुए हैं। आजीविका, शिक्षा और चिकित्सा की सम्यक् व्यवस्था के बिना आंतरिक विकास का सिद्धांत कितना व्यावहारिक हो सकता है, यह जटिल प्रश्न है। इसका उत्तर खोजे बिना अपरिग्रह के प्रति वह आकर्षण पैदा नहीं किया जा सकता, जो आकर्षण अर्थ के प्रति है।

खतरा है अतिवाद से

अर्थ सुविधा और सुख का साधन है इसलिए उसका आकर्षण कभी कम नहीं होता । अपरिग्रह के सिद्धांत से उसको कोई खतरा नहीं है । उसे खतरा है अपने अतिवाद से । वह अतिवाद ही अपरिग्रह के सिद्धांत को समाने की एक सशक्त प्रेरणा है । संग्रह अर्थ के प्रति होने वाले अति आकर्षण का परिणाम है । सुविधा और सुख के लिए जितना चाहिए उतने अर्थ का संग्रह मनुष्य करता है तो आर्थिक संग्रह की प्रतिक्रिया हिंसा के रूप में नहीं होती है । कुछ लोग सामाजिक संपदा का अर्थहीन और अनावश्यक उपयोग करते हैं । कुछ लोग जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी उसका उपयोग नहीं कर पाते । यह स्थिति अतिसंग्रह से उपजती है ।

अर्थ का मूल स्रोत

एक ज्वलंत प्रश्न है अर्जित राशि का उपयोग कैसे करें ? अर्थ का अर्जन व्यक्ति अपने श्रम से करता है, इसलिए उसका उपयोग अपने लिए ही करे, यह एक पहलू है । इसका दूसरा पहलू यह है कि अर्थ का मूलस्रोत समाज है, इसलिए उसका उपयोग समाज के लिए होना आवश्यक है । कितना अपने लिए और कितना समाज के लिए, इसका कोई सर्वसम्मत मानदण्ड नहीं बन पाया है फिर भी वास्तविकता से आंख मिचौनी नहीं करनी चाहिए । अर्जित अर्थ का उपयोग केवल अपने लिए ही हो, यह अति स्वार्थ है, सामाजिक न्याय का अतिक्रमण है । सामाजिक श्रम से अर्थ का अर्जन करे और उसका उपभोग केवल अकेला करे । अर्थ का यह सबसे अधिक अंधकारमय पक्ष है उपभोग का सामाजिक न्याय है— संविभाग-बांट-बांट का खाना । यह सिद्धान्त किसी धर्म, कर्म से जुड़ा हुआ नहीं है । इसका मूल उत्स है, सामाजिक न्याय ।

बड़प्पन का काल्पनिक मानदण्ड

वर्तमान विश्व में अनेक उद्योगपति अथवा धनपति ऐसे हैं, जो अर्थ का प्रचुर मात्रा में अर्जन करते हैं, उसका व्यक्तिगत उपयोग एक निश्चित सीमा में करते हैं, शेष अर्थ का उपयोग समाज कल्याण के लिए करते हैं । यह सामाजिक न्याय है । इस स्थिति में अर्थ का संग्रह प्रतिक्रियात्मक हिंसा को जन्म नहीं देता ।

समाज में प्रतिक्रियात्मक हिंसा अधिक हो रही है । उसका हेतु है बड़प्पन का काल्पनिक मानदंड । जिसके पास प्रचुर धन है, वह उसका प्रदर्शन करता है, अपव्यय करता है । मैंने सुना— एक महिला ने विवाह के अवसर पर एक करोड़ की पोशाक पहनी । फिर पढ़ा— दुनिया की सबसे महंगी पोशाक आठ करोड़ की है । एक विवाह मंडप पर पचास लाख रुपए या उससे भी अधिक रुपयों का व्यय, एक शादी में पांच करोड़ से पैंतीस करोड़ तक का व्यय । यह है संग्रह का दुरुपयोग । इससे प्रतिक्रियात्मक हिंसा का जन्म होता है ।

विमर्शनीय विषय

प्राचीन चिन्तकों ने धन की तीन अवस्थाएं बतलाई—भोग, दान और नाश। नाश अंतिम अवस्था है। एक अवधि के बाद वह निश्चित रूप से घटित होता है। वह विमर्श का विषय नहीं है। विमर्शनीय विषय दो हैं— भोग और दान। अर्थ के उपयोग का प्रश्न इन दोनों से जुड़ा हुआ है। व्यक्तिगत भोग के लिए अर्थ का उपयोग एक सीमा तक समाज को मान्य है। उसका अतिरिक्त उपयोग सामाजिक न्याय के विरुद्ध है और हिंसा को बढ़ाने वाला है। चोरी, डकैती, अपराध और आतंक भोग की अति आसक्ति में खोजे जा सकते हैं। समाज का एक व्यक्ति अतिरिक्त सुख, अतिरिक्त सुविधा और अर्थ चाहता है तो दूसरा भी चाहता है और तीसरा भी चाहता है। यह चाह संक्रामक बनकर पूरे समाज को रुग्ण बना देती है। यदि हम समाज को स्वस्थ रखना चाहते हैं तो संपन्न व्यक्ति को भी भोग की एक सीमा अवश्य निश्चित करनी चाहिए।

दान की भाषा बदले

अर्जित विशाल धनराशि का उपयोग अपने लिए अतिमात्र न हो, इस अवस्था में उसके उपयोग का दूसरा विकल्प है दान। दान का अर्थ बदलना होगा, उसकी भाषा भी बदलनी होगी। भिखारीपन को बढ़ावा देने वाला दान आज समाज-सम्मत नहीं है, कृपा और अनुग्रह पूर्वक दिया जाने वाला दान भी अहंकार और हीन भावना की मनोवृत्ति को जन्म देता है। वह भी समाज के लिए हितकर नहीं है। दान को आज सामाजिक सहयोग और संविभाग के रूप में परिभाषित करना जरूरी है। पैसे को बचाने के लिए मनुष्य के पास असीम अवधारणाएं हैं और असीम तर्क हैं इसलिए वह सहसा पैसे को छोड़ना नहीं चाहता। अधिकांश लोगों के धन की तीसरी गति होती है।

धन के प्रति हर व्यक्ति और समाज का दृष्टिकोण समीचीन बने, यह वर्तमान की समस्या का समाधान है।

सापेक्षता के कोण

मुक्ति कहें या स्वतंत्रता एक ही बात है। मुक्ति का अर्थ है बंधन से छुटकारा पाना। मुक्ति का यह चिंतन व्यावहारिक बनकर समाज में भी आया। स्वतंत्र समाज की कल्पना, व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना का मूल यही मुक्ति की विचारधारा है।

मुक्ति की प्रक्रिया

मुक्ति की प्रक्रिया क्या है ? इसके बारे में तीन मार्ग बताये गये हैं— सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। सर्वप्रथम दृष्टि की स्पष्टता अपेक्षित है। दर्शन के द्वारा दृष्टि साफ होने पर ही सम्यक् ज्ञान हो पाता है। ज्ञान दर्शन से पहले नहीं होता। दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ नहीं हो सकता, जिसे देखे बिना ही जान लिया गया हो। हम उतना ही जानते हैं जितना देखते हैं। जो सुना है उसे किसी ने देखा है, उसी के शब्दों के सहारे हम जान पाते हैं। सामने चित्र है, उसे देखकर ही मैं उसका ज्ञान करता हूँ, जब तक उसे देख नहीं लेता, ज्ञान नहीं होता।

समन्विति है योग

दर्शन के बाद ज्ञान होता है। देखना, जानना और फिर उसे क्रिया में लाना— इन तीनों की समन्विति का नाम योग है। जैन-दर्शन ने समन्वय के विचारों का प्रतिपादन किया, क्योंकि वह एकांगी दृष्टि से नहीं देखता। उसकी दृष्टि है अनेकान्त। अनेकान्त दृष्टि का अर्थ है प्रत्येक वस्तु को अनन्त दृष्टिकोणों से देखना। जब तक देखने के पहलू अनन्त नहीं होते तब तक सत्य को नहीं पाया जा सकता। मनोविज्ञान इसीलिए मन को विविध पहलुओं से देखता और विश्लेषण करता है। एक ही मकान को यदि व्यक्ति सामने से देखे तो उसे एक दृश्य दिखेगा, बगल से, आगे-पीछे से और भिन्न-भिन्न कोणों से देखने पर एक ही मकान के विभिन्न रूप दीखेंगे। एक ही व्यक्ति का चित्र विभिन्न कोणों से लेने पर विभिन्न होता है। एकांगीदृष्टि से पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती और हमारी दृष्टि में अन्तर आ जाता है।

अनेकांत का अर्थ

अनेकांत का अर्थ है— एक ही वस्तु के अनन्त या अनन्त विरोधी युगलों को अनन्त

दृष्टियों से देखना। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन ने भी माना है कि वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। जैन-दर्शन उससे सहमत है किन्तु पूर्णतः नहीं, क्योंकि एक वस्तु में केवल अनन्त धर्म ही नहीं होते अपितु विरोधी युगलात्मक अनन्त धर्म होते हैं, जैसे नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, सत्-असत् आदि। यह कितनी विरोधी बात लगती है, एक ही वस्तु ठंडी भी है और गर्म भी, प्रकाश भी है और अंधकार भी। एक ही आदमी अच्छा भी है और बुरा भी। हर प्रकृति में यह विरोधी बात मिलती है। उदाहरण के लिए एक डाकू को लिया जा सकता है। डाकू क्रूर और हत्यारा होता है परन्तु अपने बच्चे के प्रति दयालु भी होता है। वह अधार्मिक होता है और डाका डालता है लेकिन डाका डालने से पहले अपनी इष्टदेवी की पूजा भी करता है। इसीलिए कहा गया— वस्तु में अनन्त विरोधी युगलात्मक धर्म होते हैं। जीवन में असामंजस्य, विसंगतियाँ और उतार-चढ़ाव हैं। ये विरोधी धर्म अलग-अलग नहीं होते, एक ही व्यक्ति में होते हैं। इसे स्वीकार करने की दृष्टि ही है अनेकान्त। इस अनेकांत का ही फलित है सह-अस्तित्व।

अपेक्षा दृष्टि

सह-अस्तित्व की बात आज तो विभिन्न क्षेत्रों में चल रही है। समाजनीति और राजनीति में भी इसकी चर्चा है और साम्यवादी विचारधारा में भी सह-अस्तित्व का अस्तित्व है। साम्यवादी विचारधारा में भी स्याद्वाद का विचार फलित हुआ।

एक राजा की लड़की की कहानी है। उस लड़की ने अपने पिता से हठ किया कि रेखला नामक लड़के को मारना ही होगा। यदि वह जीवित रहा तो मैं मरूंगी क्योंकि हम दोनों एक साथ नहीं जी सकते। या तो वह जीयेगा या मैं जीवित रहूंगी। यह आग्रही और एकांगी मनोवृत्ति है। अनेकांत इसे गलत मानता है। ठंड और गर्मी दोनों सापेक्ष हैं। अपेक्षा से देखें तो एक ही वस्तु में विरोधी बात समझ में आ जाती है। हमारा सारा प्रतिपादन सापेक्षता के आधार पर होता है। जैन-दर्शन पर उसके लिए काफी प्रहार भी किये गये किन्तु आईन्स्टीन के बाद तो सापेक्षवाद की बात स्वीकार कर ली गई है। एक अंगुली का उदाहरण लें। वह अपेक्षा की दृष्टि से दूसरी अंगुली से बड़ी है तो तीसरी से छोटी भी। छोटापन और बड़प्पन— दोनों इसी में विद्यमान हैं।

सापेक्षता का निदर्शन

सापेक्षवाद के बिना सत्य की दृष्टि नहीं आती, अनाग्रह नहीं पनपता। आईन्स्टीन की पत्नी ने कहा— “मुझे सापेक्षवाद समझाओ क्योंकि मेरी समझ में नहीं आ रहा है।” आईन्स्टीन ने उसे समझाते हुए कहा— “एक व्यक्ति अपनी प्रेयसी के साथ बात करता है तो घंटा पांच मिनट के समान लगता है किन्तु वही व्यक्ति जब चूल्हे की आंच के सामने बैठता है तो उसे पांच मिनट का समय घंटाभर से भी ज्यादा लगने लगता है।” पुराने जमाने की बात लें। भोज के दरबार में चर्चा चली—कालिदास हर समस्या को श्रृंगार

में बदल देते हैं। परीक्षा के लिए उपनिषद् की एक समस्या दी गई—

‘अणोरणीयान् महतो महीयान् ।’

कालिदास ने समस्यापूर्ति करने हेतु तुरंत श्लोक बना दिया—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं, करेण धृत्वा शपथं करोमि ।

योगे वियोगे दिवसौगनायाः, अणोरणीयान् महतोमहीयान् ॥

—‘यह परम पवित्र जनेऊ हाथ में लेकर सौगन्ध खाते हुए कहता हूँ कि जब पत्नी का योग होता है तो दिन छोटा और वियोग में बड़ा लगता है।’ आईन्स्टीन और कालिदास में काल का लम्बा अन्तर होने पर भी उनका उत्तर एक ही है। सत्य का प्रवाह सदा एक प्रकार का चलता जाता है।

सापेक्षता का हृदय

जैनदृष्टि से इस पर विचार करते हुए सापेक्षवाद को कैसे समझें ? सबसे पहले स्थूल रूप से एक वस्तु का विचार करना चाहिए। दूध का उदाहरण लें। एक व्यक्ति ने संकल्प किया कि मैं दूध के सिवाय कुछ नहीं खाऊंगा। वह व्यक्ति दही नहीं खा सकता और दही के सिवाय कुछ नहीं खाने वाला दूध नहीं पी सकता है। गोरस नहीं खाने वाला दूध, दही, घी, छाछ कुछ भी नहीं खा सकता क्योंकि ये गोरस के रूप हैं। दही और दूध दोनों में गोरस है, यह सापेक्ष-दृष्टि है। किसी को शत्रु अथवा मित्र मानना अज्ञान-दृष्टि है। आचार्य पूज्यपाद ने बहुत सुंदर लिखा है— “तुम कहते हो वह मेरा शत्रु है; तो क्या तुम उसे सर्वांशतः जानते हो ? केवल शरीर और ऊपर की स्थिति को जानते हो। तुम जानते ही नहीं तब कोई तुम्हारा शत्रु या मित्र कैसे होगा और जान लेने पर वह न तुम्हारा शत्रु होगा, न मित्र।” यह सापेक्ष-दृष्टि है, जिससे देखने का क्रम बदल जाता है।

व्यवहार दृष्टि : निश्चय दृष्टि

मेरे हाथ में कपड़ा है जिसे आप सफेद कहेंगे किन्तु यह व्यवहार-दृष्टि से कथन है। निश्चय की दृष्टि से इसमें सारे रंग विद्यमान हैं। रेत में भी मिठास का अंश होता है, यह पढ़कर अटपटा लगता है, किन्तु अलकतरे से भी जब मिठास निकल सकती है तो यह क्या कठिन है।

स्याद्वाद और अनेकान्त से ही सह-अस्तित्व, सापेक्षता और स्वतंत्रता का विकास हुआ है। स्याद्वाद के विषय में उत्तरवर्ती साहित्य बहुत लिखा गया है। अनेकांत सिद्धान्त का नाम है और स्याद्वाद है कथन की पद्धति और प्रकार। तीन पद्धतियों का विकास हुआ— नयवाद, स्याद्वाद और दुर्नयवाद। समग्र वस्तु जाननी है या उसका एक पहलू— ये दो दृष्टियां हैं। वस्तु को हम समग्रता से जान नहीं पाते। आप रोज रोटी खाते हैं किन्तु क्या आप उसे जानते हैं ? आपने रोटी का रूप जाना है किन्तु क्या वही मात्र रोटी

है ? पांच इंद्रियां आपके पास हैं। आपने रोटी को आंख से देखकर जाना, अंधेरे में स्वाद से जाना, स्पर्श से जाना, रोटी तोड़कर शब्द से जाना और सूंघकर भी जान लिया। किन्तु फिर भी रोटी के एक पर्याय को जाना है, समग्रता से नहीं। उसमें ठंड, गर्म, स्टार्च आदि कितना क्या है, यह जानना तो बहुत बाकी है।

सापेक्षता की नीति

हमारा ज्ञान जब विकसित होता है तब हम इन्द्रियों का ज्ञान विकसित कर लेते हैं लेकिन प्रथम बार हम एक इन्द्रिय से वस्तु के पर्याय को जानते हैं, समग्र वस्तु को नहीं जान सकते। वस्तु के एक धर्म का विश्लेषण कर अन्य को गौण कर देते हैं। आचार्य अमृतचंद्र ने लिखा है— एक ग्वालन दोनों हाथों से बिलौना करती है। एक हाथ आगे ले जाती है, फिर दूसरा पीछे लाती है। इस प्रकार आगे-पीछे का क्रम चलता है तब मक्खन मिलता है।” यही सापेक्षता की नीति है। एक वस्तु का धर्म सामने आ जाता है, दूसरा गौण कर देते हैं। एक को गौण करना, दूसरे को आगे ला देना; एक को आगे लाना, दूसरे को पीछे कर देना, यह है सापेक्षता का दृष्टिकोण।

दुनिया में ऐसा कोई वस्तु-धर्म नहीं, जिसके द्वारा सामंजस्य नहीं बैठाया जा सके। सापेक्षवाद प्रस्तुत वातावरण के लिए ज्यादा अनुकूल है। बिना सापेक्षवाद के नाम से ही अपने आप यह विकसित होता जा रहा है।

अध्यात्म की सूई : मानवता का धागा

मैं देख रहा हूँ— लगभग दो घंटे हो गये, अनेक वाहन, व्यक्ति और सवारियाँ एक ही सड़क से गुजर रहे हैं। इसी प्रकार एक ही बात कहनी है किन्तु शब्द और कहने वाले अनेक हैं। एकता-अनेकता का विचित्र संयोग है। पानी के लिये शब्द अनेक हैं किन्तु अर्थ एक ही है। पानी प्यास बुझा देगा, उसका शब्द के साथ प्रतिबंध नहीं है; क्योंकि अर्थ का शब्द के साथ प्रतिबंध नहीं है; वह भाषा के साथ बंधा हुआ नहीं है।

भूमि पर चलने का हमारा सम्बन्ध है किन्तु उसके साथ तन्मयता और तादात्म्य होना चाहिए। भूमि की विशालता पैर नाप सकते हैं, वाहन नहीं, क्योंकि वाहनों के द्वारा आपका भूमि से तादात्म्य और एकत्व नहीं। वाहनों में तादात्म्य की अनुभूति नहीं होती। आकाश की विशालता पक्षी ही अपने पंखों से नाप सकते हैं, हवाई जहाज़ में बैठा मनुष्य नहीं। इसी प्रकार जिसके हृदय में मानवता का बीज अंकुरित हुआ है, वही मनुष्य की महानता विशालता को समझ सकता है। जिसके हृदय में मनुष्यता का बीज ही नहीं पनपा, वह इसे नहीं नाप सकता।

सबसे बड़ा कौन ?

एक बार देवताओं में प्रश्न उठा कि विश्व में सबसे बड़ा कौन ? एक ने कहा— पृथ्वी बड़ी है तो दूसरे ने कहा— पृथ्वी से तीन गुणा बड़ा समुद्र है। एक देवता ने कहा— समुद्र से बड़े तो अगस्त्य ऋषि हैं, जिन्होंने समुद्र का चुल्लु से ही पान कर लिया था। दूसरे देव ने कहा आकाश बड़ा है क्योंकि सारे विश्व पर वह आच्छादित है। एक देव बोला— भगवान् सबसे बड़े हैं जिनका अस्तित्व कण-कण में है। अन्त में बहुत देर से चुप बैठे एक देव ने कहा भक्त सबसे बड़ा है जो अपने हृदय में भगवान् को बैठा सकता है।

सचमुच मनुष्य महान् है। मस्तिष्क छोटा और शरीर लघु होते हुए भी उसकी चिंतनधारा विशाल है, प्रवहमान है। मनुष्य है तभी धर्म, दर्शन और भगवान् है, अन्यथा कुछ नहीं होता। हमारी कठिनाई है कि हम मनुष्य को पहचानते नहीं, पहचानना भी नहीं चाहते। मनुष्य को जाने बिना आदमी धार्मिक बन ही नहीं सकता। मनुष्य और मनुष्य के बीच मानवता का सूत्र था, वह धागा टूट गया। बल्ब से प्रकाश आ रहा है किन्तु

वह प्रकाश बल्ब का नहीं, तार द्वारा पावर हाउस से आ रहा है। यदि तार का बल्ब से संबंध टूट जाए तो बल्ब का प्रकाश समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार मनुष्यता का तार छूटने से मनुष्य क्रूर हो जाता है। आदमी का आदमी से सम्बन्ध धर्म के बिना नहीं हो पाता है।

धार्मिक की दयनीय स्थिति

लोगों ने नाम रटना, मंदिर, संत-दर्शनों तक ही धर्म को सीमित कर दिया। इन बाह्य उपासनाओं और क्रियाकांडों में ही धर्म की इतिश्री मानकर बैठ गये। भले ही वे क्रूरता, धोखेबाजी, ईर्ष्या, अन्याय करते हों किन्तु माला जपकर, मंदिर जाकर, आरती और पूजा कर वे धार्मिक बन जाते हैं। आज के धार्मिक की स्थिति दयनीय है। वह धार्मिक बनता है किन्तु क्रूरता भी करता है। क्या धार्मिकता और क्रूरता एक साथ टिक सकती हैं? धर्म से मोक्ष, स्वर्ग, धन, परिवार आदि मिलता है— यह लालच लोगों में है किन्तु इसे भी वे बिना किसी परिश्रम, त्याग एवं बलिदान के ही प्राप्त करना चाहते हैं। केवल पैसों से ही धर्म खरीदना चाहते हैं। आराम का आराम और केवल थोड़ा सा राम नाम। बस इतना ही पर्याप्त समझकर सब कुछ पाना चाहते हैं किन्तु यह सम्भव नहीं है। जब तक हम अपने संकीर्ण विचारों से ऊपर उठकर सही चिंतन नहीं करेंगे तब तक धर्म को नहीं पा सकेंगे।

मनुष्यता का सूत्र

एक पागल था। उसे यदि कोई पीछे से मुक्का मारता तो बिना कुछ सोचे-समझे अपने से आगे चलने वाले को वह भी मुक्का मार देता। वह यह नहीं सोचता कि मुझे किसने मुक्का मारा है। वह तो यही जानता है कि उसे मुक्का मारा गया है इसलिए वह भी दूसरे को मुक्का मारेगा। आज के धार्मिक भी इसी प्रकार बिना सोचे-समझे क्रिया कर रहे हैं। अतीत और वर्तमान, दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे देखकर चतुर्दिक विचारों को जाने बिना हम सत्य को नहीं पा सकते।

हम आगे बढ़ने की कामना करते हैं किन्तु एक को ठुकराकर दूसरा आगे नहीं बढ़ सकता। दूसरों के सत्य को भी जानना और समझना जरूरी है। समानता और समता का वातावरण पैदा करना होगा। आज केवल पाप-पुण्य के नाम पर विसंगति नहीं चल सकती। 'बुराइयां ज्यादा नहीं चल सकती', इस सत्य को अनुभव करना होगा अन्यथा हिंसा को रोकना कठिन होगा। व्यक्ति अपने अंदर मानवता के सूत्र को कायम रखते हुए स्वार्थों को सीमित बनाएं। मनुष्यता का सूत्र जब तक है तभी तक मनुष्य मनुष्य है।

समस्या का पत्थर : अध्यात्म की छेनी

‘वर्षातपाभ्याम् किं व्योमनः चर्मण्यस्ति तयोः फलम् ।’

कभी बम्बई जैसी मूसलाधार वर्षा होती है और कभी राजस्थान जैसी चिलचिलाती धूप, किन्तु आकाश वर्षा में गीला नहीं होता, धूप में गर्म नहीं होता और सर्दी में ठिठुरकर कपड़ा नहीं ओढ़ता । क्योंकि आकाश वर्षा, सर्दी, गर्मी से अतीत है । उस पर इनका प्रभाव नहीं होता, जबकि हमारी चमड़ी पर इनका असर होता है ।

समस्याएं आकाश की तरह बनने पर ही मिट सकती हैं, मिटाई जा सकती हैं, किन्तु यदि हम केवल चर्ममय रह जाएंगे तो समस्याएं कभी नहीं सुलझने वाली हैं । अनन्तकाल बीत गया किन्तु किन्तु समस्याओं का कभी अन्त हुआ हो ऐसा नहीं दिखाई देता । जब तक मनुष्य है, उसके पास चिन्तन और विचार हैं तब तक समस्याएं रहेंगी । यदि व्यक्ति गहरी निद्रा में सो जाए, चिन्तन बन्द हो जाए और प्रलय जैसा ही कुछ हो जाए तो सम्भव है समस्या नहीं रहे, अन्यथा समस्या रहेगी ।

समस्या है एकांगीपन

भगवान् ने कहा—

“जे अज्झत्थं जाणई, से बहिया जाणई ।

जे बहिया जाणई, स अज्झत्थं जाणई ॥”

‘जो अध्यात्म को जानता है वह बाहर को जानता है ।

जो बाहर को जानता है वह अध्यात्म को जानता है ।’

आज हमारी समस्या यह है कि कुछ व्यक्ति केवल अध्यात्म को लेकर बैठे हैं और कुछ केवल बाह्य को पकड़े हुए हैं । दोनों अपने-अपने सिरों को तानकर बैठे हैं । जहां अध्यात्म है वहां व्यावहारिकता का सामंजस्य नहीं है । एकांगीपन ही समस्या है । कौवे को काना माना जाता है, क्योंकि वह एक ही गोलक से दोनों आंखों का काम चलाता है । उसमें एकांगीपन है । यह एकांगी दृष्टि है । मनुष्य भी आज सर्वांगीण दृष्टि से देखना नहीं चाहता । उसके मन पर आवरण आ गया है । सरलता और ऋजुता नहीं है । यदि सरलता और ऋजुता हो तो कोई समस्या रहनेवाली नहीं है ।

धार्मिक की समस्या

‘जो अध्यात्म को जानता है वह बाहर को जानता है,’ धार्मिकों ने इसे पकड़कर सोच लिया कि धर्म से धन, रोटी, पुत्र, सुख-वैभव सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। धर्म के द्वारा इन सभी समस्याओं को सुलझाना कठिन होगा। प्यास पानी पीने से मिटेगी, भूख रोटी खाने से शान्त होगी और पैसा पुरुषार्थ से प्राप्त होगा। समस्याओं के सुलझाने में यथाथदृष्टि होनी चाहिए।

व्यवहार जगत् की समस्या

दूसरी ओर व्यवहार को पकड़नेवाले व्यक्ति सभी समस्याओं को सुलझाने में केवल व्यवहार को ही उपयोगी मानते हैं। वे धर्म और अध्यात्म को अनुपयोगी कहते हैं, अनावश्यक समझते हैं। अर्थशास्त्री भौतिक सामग्री के उत्पादन पर बल देते हैं किन्तु क्या मनुष्यों के सामने केवल भूख, प्यास, कपड़े आदि की ही समस्या है? क्या इससे भी अतिरिक्त मन की सबसे बड़ी समस्या उनके सामने नहीं है?

समस्या का मूल कहां है ?

समस्या बाहर से आती है किन्तु उसका मूल कहां है? प्रयाग में त्रिवेणी है, किन्तु उसका मूल स्रोत कैलाश है। हमारी समस्याएं भी बाहर के विस्तार से आ रही हैं किन्तु उनका मूल हमारे मन में है। ९५ प्रतिशत समस्याएं हमारे मन से उत्पन्न होती हैं। जटिल और मूल समस्या है मन की। घर में धन-दौलत, पुत्र, परिवार, स्वास्थ्य सब कुछ होते हुए भी कलह है, भाई-भाई में झगड़ा है, पिता पुत्र लड़ते हैं और कहीं भी शान्ति नहीं। जहां सम्यन्ता ज्यादा है वहां झगड़े और अशान्ति भी अधिक है। अभाव में इतने झगड़े और कलह नहीं दीखते; क्योंकि जिसके लिए झगड़े होते हैं वह वहां है ही नहीं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि समस्या भौतिक पदार्थों की ही नहीं, मन की भी है।

आवेग से जुड़ी हैं समस्याएं

क्रोध, लोभ, भय, मोह, वासना, घृणा, इर्ष्या, शोक आदि मन के ये आवेग जब तक जीवित हैं तब तक समस्या सुलझने वाली नहीं, चाहे समाजवाद आए या साम्यवाद। कोई भी वाद इन समस्याओं को सुलझा नहीं सकता। मार्क्स ने राज्यविहीन शासन-पद्धति की कल्पना की थी। जैन-शास्त्रों में ‘अहं इन्द्र’ देवताओं की भी ऐसी ही चर्चा आती है जहां कोई स्वामी और सेवक नहीं होता। सब स्वयं में इन्द्र होते हैं। परन्तु उनके क्रोध, अभिमान, माया और लोभ उपशान्त होते हैं इसीलिए वे स्वामी-सेवक-विहीन स्थिति में पलते हैं। मार्क्स की राज्य-विहीन समाज की कल्पना अच्छी थी किन्तु वह इसलिए सफल नहीं हो सकी, क्योंकि उनका समाज क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रचुरता वाला समाज है। वहां राज्य-विहीन समाज की अपेक्षा अधिनायकवादी समाज विकसित हुआ है।

राज्यविहीन समाज की रचना के मूल में अध्यात्म की भूमिका आवश्यक थी। लोकतंत्र की असफलता का कारण भी है अध्यात्म की भूमिका का अभाव।

अरस्तु की पत्नी बहुत क्रोधी थी। एक दिन अरस्तु बाहर से घर आए तो वह बिगड़ उठी। पहले तो क्रोध में आकर गालियां देने लगी किन्तु जब अरस्तु ने वापस जवाब नहीं दिया तो उसने पानी-भरी बाल्टी अरस्तु के सिर पर डाल दी। अरस्तु ने शान्ति से जवाब दिया— 'क्या सुन्दर क्रम है ! पहले गर्जन और फिर बरसात।' पत्नी का क्रोध हँसी में बह गया।

इस दृष्टान्त से स्पष्ट समझ में आता है कि अध्यात्म की पृष्ठभूमि अरस्तु के साथ थी इसलिए समस्या उठने ही नहीं पायी। दूसरी ओर उसकी पत्नी के साथ अध्यात्म नहीं था, फलतः वह उलझ रही थी। समस्या एक ओर है तो दूसरी ओर समाधान भी प्रस्तुत है।

दृष्टि का विपर्यास

सब समस्याओं की ओर से मुंह मोड़कर केवल अपनी समस्या की ओर ध्यान दें। हम बाहर में भटकते हैं तो शक्ति क्षीण होती है। सूर्य की किरणें केन्द्रित करने से अग्नि प्रज्वलित होती है और केन्द्रित हवा गुब्बारे को आसमान में उड़ाती है किन्तु हम मन की शक्ति को केन्द्रित न कर विकेंद्रित कर देते हैं। मैं इसीलिए कहता हूँ कि अपने आप पर ध्यान दें, यही अध्यात्म है। समस्याओं को सुलझाने का विकल्प बाहर में ही ढूँढते हैं, अन्तर की ओर नहीं जाते। हम सब बाहर ही खड़े हैं, भीतर जाना नहीं चाहते। भीतर से भय लगता है। कितनी विपरीत बात है ! जहां भय है वहां हम खड़े हैं और जहां निर्भयता है वहां जाते भयभीत हो रहे हैं—

‘मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।

यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः ॥’

जहां से वह डर रहा है, वही अभय का स्थान है।

दृष्टि का विपर्यास जब तक नहीं मिटेगा तब तक समस्या सुलझने वाली नहीं। घाव की दवा घाव पर ही लगानी होती है। आचार्य भिक्षु ने एक दृष्टान्त से समझाते हुए कहा कि आंख का रोगी आंख की दवा को आंख में नहीं डालना चाहता; क्योंकि वहां जलन होती है। इसीलिए वह पीठ पर मलता है। क्या इससे आंख ठीक हो जायेगी ?

समस्या है आग्रह

हमारी समस्याएं आग्रह के कारण उलझती हैं। जीवन में अनाग्रह और सत्य आना चाहिए किन्तु इसके लिये अवकाश ही कहां है ? दिमाग में ताले लगा रखे हैं। दरवाजे तो दूर, खिड़की तक भी खुली नहीं रखी है। जाति का ताला लगा है, वर्ण और सम्प्रदाय का ताला बन्द है। हिन्दुओं के जातिवादी तिरस्कार से अनेक बौद्ध, ईसाई और मुसलमान

बन गये । जैन-धर्म सिद्धान्ततः जातिवाद को नहीं मानता किन्तु व्यवहार में जैनाचार्यों ने भी अपने यहां ताले लगा दिये । डा० अम्बेडकर जैसे व्यक्ति ने जैनधर्म स्वीकार करने की इच्छा व्यक्त की, प्रयास किया और कई जैनाचार्यों से मिले, परन्तु हम उन्हें भी स्वीकार नहीं कर सके, जबकि भगवान् महावीर ने जातिवाद पर प्रहार किया, अनेक आचार्यों ने जातिवाद के विरुद्ध पचासों ग्रन्थ लिख डाले । इसी प्रकार भाषा का ताला लगा है ।

जहां समन्वय और एकता की बात थी; वहीं विरोध, झगड़ा और अनेकत्व है । जब तक ये सारी समस्याएं नहीं सुलझेंगी तब तक दूसरी समस्याएं कैसे सुलझेंगी ? सबसे प्रथम है अध्यात्म के द्वारा हम स्वयं के अन्तर की समस्याओं को सुलझाएं । भीतर जाकर समस्याओं का समाधान ढूँढ़ें तो उन सभी समस्याओं का समाधान मिल सकता है ।

एकांगीपन को छोड़कर दोनों आंखों से देखें । बाहर का बाहर और भीतर का भीतर ढूँढ़ें । यही सही समाधान है ।

जीवन की तुला : समता के बटखरे

एक आदमी गाय रखता है, उसे घास खिलाता है; दूध दुहकर गर्म करता है और जमाता है। दही का फिर बिलौना करता है। इतना कार्य क्यों करता है ? यह लम्बी और दीर्घकालीन प्रक्रिया नवनीत के लिए की जाती है। स्नेह और मक्खन के लिए ही यह परिश्रम किया जाता है। जीवन में खाने-पीने, श्रम आदि की सारी लम्बी प्रक्रिया इसलिए करते हैं कि सुख और शान्ति से जी सकें।

जीवन का नवनीत

जीवन का नवनीत है—शान्ति। जिन्दगी का मक्खन है—मन की शान्ति। हम धर्म, भगवान् और शास्त्रों के पीछे शान्ति के लिए ही जाते हैं। हज़ारों मील की यात्रा करके भी व्यक्ति वहां पहुँच जाता है, जहां शान्ति मिलने की आशा हो, समाधि मिलती हो। शान्ति नहीं ही मिलती है ऐसा नहीं कहा जा सकता, किन्तु शान्ति का प्राप्त होना सहज नहीं है क्योंकि शान्ति के लिए जो तपस्या करनी चाहिए, व्यक्ति उसे कर नहीं पाता। चार मास की तपस्या करना सरल बात है किन्तु चार मिनट के लिए भी समभाव में रहना कठिन बात है।

मन में उच्चावच भाव आते हैं, उतार-चढ़ाव की स्थिति पैदा होती है तो 'शान्ति भंग हो जाती है। यह परिस्थितियों के कारण आता है। व्यक्ति स्वयं में स्थित नहीं है, दूसरों से प्रभावित होता है। रात होते ही नींद आने लगती है, सुबह होते ही चाय-जलपान की आवश्यकता महसूस हो जाती है। वह क्षेत्र, व्यक्ति, मान, अपमान, सम्मान से प्रभावित होता है। यदि इनसे व्यक्ति प्रभावित नहीं होता तो कठिनाई नहीं होती।

प्रभावित हैं शंकर भी

शंकर के पास एक बार शनिदेव आया और बोला, “भगवन् ! अब आपकी राशि पर साढ़े साती के साथ आने वाला हूँ।” शनिदेव चला गया लेकिन शंकर को उसके कथन से अपमान का अनुभव हुआ। उन्होंने शनि की चुनौती स्वीकार कर ली और सोचा कि मैं गुफा में जाकर साढ़े सात वर्षों तक निरन्तर तपस्या और साधना में लग जाऊंगा, फिर देखें वह मेरा क्या बिगाड़ लेता है। शंकर ने साढ़े सात वर्षों तक एकांत में साधना की, खाना-पीना कुछ भी नहीं किया। समय पूरा होने पर शनि आया तो शंकर ने कहा—

“छोकरे ! तूने मेरा क्या बिगाड़ लिया ?” शनि ने हँसकर कहा— “भगवन् ! भला इससे अधिक कष्ट क्या दे सकता था कि आप पूरे साढ़े सात वर्षों तक भूखे और प्यासे रहे !” जब शंकर भी परिस्थिति से प्रभावित हो गए तो साधारण व्यक्ति की क्या बात ?

कठिन है अप्रभावित रहना

मन को परिस्थितियों से अप्रभावित रखना कठिन है। कोई आदमी सम्मान देता है, प्रशंसा करता है तो गर्व का भाव आ जाता है। इसके प्रतिकूल कहीं अपमान हो जाए अथवा आलोचना हो तो क्रोध का भाव आता है। यह हर्ष और क्रोध स्वयं का नहीं, बाहर से आता है। ये बाहरी नाले और सुराख जब तक बन्द नहीं होंगे, शान्ति नहीं मिलेगी। इन आश्रवों—छेदों और खिड़कियों को जब तक बन्द नहीं करेंगे, तब तक दूसरों के हाथ के खिलौने बने रहेंगे। हमारे भाग्य की कुंजी दूसरे के हाथों में चल रही है। टेप-रेकार्डर बोलता है किन्तु यह आवाज उसकी नहीं, किसी दूसरे व्यक्ति की है। ठीक वही गति हमारी है।

हम स्वयं अपने भाग्य के स्वामी नहीं हैं। अपने आपको स्वयं के बटखरों, गजों से तोलना-मापना नहीं जानते। दूसरों के ही बटखरों से तोलते हैं। दूसरों के कहने से ही अपने को अच्छा या बुरा मान लेते हैं। अच्छे-बुरे का मानदंड अपना नहीं, लोग जैसा कहते हैं व्यक्ति वैसा ही बन जाता है। जब तक मनुष्य दूसरों के इशारे पर नाचता रहेगा तब तक शान्ति की कल्पना नहीं हो सकती। इसलिए दूसरों की इच्छा और इशारे पर नाचना बंद करना जरूरी है।

विषम भाव से बचें

जब तक समता की साधना नहीं होगी, तब तक धर्म और शान्ति प्राप्त नहीं की जा सकती। भगवान् महावीर ने सामायिक की बात कही, समता की साधना का उपदेश दिया। हमें वैषम्य से बचना है, तभी शान्ति की बात सहज होगी। यह बात कहने में सुगम है किन्तु करना कठिन है। शेर की गुफा में जाने से भी अधिक कठिन है विषम भाव से बचना। कहा गया—

“लाभा-लाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।

समो निन्दा पंससासु, तहा माणावमाणओ।”

—लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मान-अपमान आदि में समभाव रखो। बात ठीक लगती है, किन्तु व्यवहार में देखें कि क्या स्थिति है ? अनुकूल में प्रसन्नता, प्रतिकूल में दुःख होता है और मनःस्थिति में परिवर्तन हो जाता है। प्रतिकूल से निराशा, हीन भावना, दयनीयता आती है, जिससे अनेक घटनाएं घटित होती हैं। आत्महत्या जैसी भयावह स्थिति पैदा हो जाती है। लाभ-अलाभ में समान रहना कठिन है। राम को दशरथ ने राज्य देने

की घोषणा की तो हर्ष नहीं; वनवास दिया तो विषाद नहीं। सचमुच यह तभी सम्भव है यदि व्यक्ति राम हो।

शान्ति है स्व-रमण में

राम अर्थात् अपने आप में रमण करने वाला। बाह्य में रमण करने वाला शान्ति नहीं पा सकता। अपने आप में रमण करना ही शान्ति है। सुख-दुःख, जीवन-मरण में समान रहना बहुत कठिन है। मनुष्य मरने की स्थिति को सपने में देखकर भी रोने लगता है। फिर साक्षात् मौत देखकर उसकी जो हालत होती है, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि किसी को मरने का दिन बता दिया जाए तो वह भय से अधमरा हो जाता है। कभी-कभी मौत के भय से मौत भी हो जाती है। इसी प्रकार मान और अपमान का प्रश्न भी है। अपने अपमान के लिए प्रतिशोध की बात तुरन्त उठती है, भले ही सामने वाले व्यक्ति के मन में कहीं थोड़ी-बहुत भी अपमान करने की भावना नहीं हो।

समझदार व्यक्ति बोलता नहीं, भाव प्रदर्शित नहीं करता, किन्तु गांठ बांध लेता है। मन को सीधा घुमा देता है, मोड़ लेने की भी जरूरत नहीं होती। अपमान-सम्मान में सम रहना दुष्कर है। मानसिक विषमता, उतार-चढ़ाव, पर विजय पाए बिना शान्ति नहीं। शान्ति फल है, बीज नहीं। शान्ति कार्य नहीं, परिणाम है। बीज के बिना फल नहीं। उसका कारण है समभाव—समता की आराधना किए बिना शान्ति का प्रश्न सुलझने वाला नहीं है। धर्म क्या है? समता के सिवाय कोई धर्म नहीं। भगवान् महावीर ने समता का उपदेश दिया। जैन-शासन से समता को हटा दें तो कुछ नहीं बचेगा।

शान्ति का मूल

आज धर्म के क्षेत्र को भी व्यवहार के बाटों से तोलते हैं, दुनियावी लोग स्थिति को व्यवहार से तोल सकते हैं। वे मान का सम्मान, अपमान का तिरस्कार से प्रत्युत्तर दे सकते हैं। उनका यह चिन्तन हो सकता है—

तुम आवो डग एक, तो हम आवें डग अड्ड।

तुम हमसे करड़े रहो, तो हम हैं करड़े लड्ड।

धार्मिक ऐसा नहीं कर सकता। वह प्रतिकूल के लिए भी अनुकूल ही करेगा। महावीर ने चण्डकौशिक के प्रति भी कल्याण का ही चिन्तन किया। वैरभाव के बदले में भी वात्सल्य का भाव प्रदर्शित किया। जिस जीवन में समता का विकास नहीं, अध्यात्म का विकास नहीं; वहां शान्ति नहीं। धर्म और शान्ति का मूल है—समता भाव।

धर्म का मर्म

समता की साधना और विकास तब तक नहीं हो सकता जब तक हम दूसरे के प्रतिकूल व्यवहार को नहीं भूलते। यह भूलना भोलापन नहीं, मूर्खता भी नहीं। हर स्थिति

को समझकर भी जो विरोधी व्यवहार नहीं करेगा, वही धार्मिक है। जिस व्यक्ति के मन में धर्म है, वह समझकर भी वैसा व्यवहार नहीं करेगा। जिस दिन दूसरों के मनोभावों से प्रभावित होकर अपने मानेभाव व्यक्त नहीं करेंगे, दूसरों के पैरों से प्रभावित होकर नहीं चलेंगे, तब समता और समभाव प्रकट होगा। अध्यात्म का द्वार खुलेगा और मन को शान्ति मिलेगी।

जो सारे साधन होते हुए भी बिलखते-बिलखते जीते हैं, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, क्रोध आदि अवगुण पालकर अपने जीवन में धुन लगा लेते हैं; वे सचमुच जीना ही नहीं जानते। जो धार्मिक नहीं होता, वह जीने की कला नहीं जानता। धर्म के मर्म को समझने वाला ही सुख से जी सकता है।

करुणा का दोहरा रूप

शमार्थ सर्वशास्त्राणि, विहितानि मनीषिभिः ।

स एव सर्वशास्त्रज्ञः, यस्य शान्तं सदा मनः ॥

एक आचार्य ने चिंतन किया कि क्या कोई सर्व-शास्त्रज्ञ हो सकता है ? उन्हें लगा कि यह सम्भव नहीं, क्योंकि अनेक भाषाओं में अनेक ग्रंथ हैं । भला किस-किस को पढ़ा जाए ? सारी जिन्दगी खपने पर भी सभी शास्त्रों को पढ़ना सम्भव नहीं होगा । चिंतन का दूसरा पहलू उभरा और उनको लगा कि वही व्यक्ति सर्व-शास्त्रज्ञ है, जिसका मन सदा शांत है; क्योंकि सभी शास्त्र शांति के लिए रचित होते हैं ।

व्यक्ति अशांत क्यों है ?

शान्ति और अशान्ति के बीच सारी दुनिया झूल रही है । अशान्ति से शान्ति की ओर आने का मनुष्य अथक प्रयास कर रहा है किन्तु जब तक वह अशान्त है, शान्ति उसे मिल नहीं सकी । मनुष्य ने अन्य बहुत कुछ पाया किन्तु शान्ति को प्राप्त नहीं कर सका । अशान्ति का प्रश्न जहां का तहां और ज्यों का त्यों है । बैलगाड़ी पर चलने वाला मनुष्य रॉकेट और स्पूतनिक की यात्रा कर रहा है, समुद्र की गहराई में पैठ गया है और मशीनों तथा यंत्रों का चरम विकास हुआ है । स्थिति ऐसी बन रही है कि तोप से तोप लड़ेगी । युद्ध भी आदमी नहीं, उसकी बुद्धि ही लड़ेगी । मनुष्य उपकरण-प्रधान हो गया है, फिर भी अशान्ति की इतिश्री नहीं हो रही है । जहां धन वैभव, भोग और विलास ज्यादा है, जहां शास्त्रों की प्रचुरता है वहां तो दुःख और भी अधिक है, अशान्ति ज्यादा है । विद्या की विविध शाखाएं होने पर भी, सुख-सुविधा के साधनों का विकास होने के बावजूद भी व्यक्ति अशान्त क्यों है ?

ऐसी स्थिति क्यों ?

हमें क्या बनना है ? इसका आज चिंतन नहीं है । स्वयं का निर्माण करना जरूरी है । भारत को भी निर्णय करना है कि उसे क्या बनना है ? प्रवाह से बचना उसके लिए भी कठिन है यद्यपि भारत को स्थिर रहकर प्रवाह के विरुद्ध चलना था, क्योंकि यहां अध्यात्म की परंपरा रही है । मनु ने कहा था—'इस देश से दुनिया चरित्र की शिक्षा ले ।' आज

वह श्लोक दोहराने का मन ही नहीं करता, क्योंकि यहां से अब मिलावट, अप्रामाणिकता और चोरी की ही शिक्षा मिल सकती है। गीता, रामायण, आगमसूत्र, पिटक, अद्वैत का चिंतन एवं पातंजल का योगशास्त्र जैसे ग्रन्थ और नियम होने पर भी आज ऐसी स्थिति क्यों ? स्वयं शंकराचार्य ने अपने आपको विधि-निषेधों का किंकर माना है। कहां गया हमारा वह धार्मिक चिंतन ?

यह है करुणा

धर्म का प्रथम पाठ था करुणा। व्यक्ति धर्म के इस तत्त्व को भूल गया है। करुणा का अर्थ है मन की मृदुता। जिस व्यक्ति की क्रूरता धुल जाती है, वह धार्मिक है। आज की दोहरी करुणा अपेक्षित नहीं। व्यापार में गरीब का गला काटते करुणा नहीं आती किन्तु वे ही धर्म के नाम पर गरीबों को करुणापूर्वक कुछ दान देते हैं, चींटियों को चीनी डालते हैं। करुणा श्रीमद् राजचंद्र की थी। उन्होंने एक व्यापारी से सौदा किया, भाव बढ़े और व्यापारी को पचास हजार रुपयों का नुकसान होने वाला था। श्रीमद् राजचंद्र उसके घर पहुंचे तो व्यापारी ने कांपते हुए कहा— “मुझे थोड़ा समय दें ताकि मैं आपकी पाई-पाई चुका सकूं।”

श्रीमद् राजचंद्र ने सौदे के समझौते का कागज उससे लिया और अपने हाथों फाड़ते हुए कहा— “राजचंद्र दूध पी सकता है, किन्तु किसी का खून नहीं पी सकता। तुम्हारा सौदा समाप्त हुआ।” यह है करुणा। आज इसका शतांश भी तो नहीं दिखता।

ध्वंस के बिना निर्माण नहीं होता

आज तो गली-सड़ी दूषित वृत्ति देखी जा रही है, जहां दिन-भर की क्रूरता को चींटी के बिल में चीनी डालकर मिटाने का प्रयास होता है। बुद्ध ने करुणा, महावीर ने अहिंसा और गीता ने अनासक्ति का उपदेश दिया। किन्तु फिर भी कुछ असर नहीं देखा जा रहा है। केवल क्रियाकांडों से ही संतुष्टि मान रहे हैं। जीवन में परिवर्तन, संस्कारों में मोड़, जीवन का विकास और आचार-धर्म को विकसित करने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं कर रहे हैं।

आचार्य तुलसी इसीलिए धर्म की अंधश्रद्धा तोड़ना चाहते हैं, उसे हिला रहे हैं। बनाने के लिए भी तोड़ना पड़ता है। ध्वंस के बिना निर्माण नहीं होता।

धर्म का पहला पाठ

आधुनिक युग में पढ़ने को बहुत ज़्यादा महत्त्व दिया जाता है और शास्त्रों के अध्ययन पर तो विशेष जोर दिया जाता रहा है। किन्तु एक आचार्य ने लिखा है—

वेदान्यशास्त्रवित् क्लेशं, रसमध्यात्मशास्त्रवित् ।

भाग्यभृद् भोगमान्नोति, वहति चन्दनं खरः ॥

—‘शास्त्रों को कोरा जानने वाला उनका भार ढोता है और क्लेश पाता है। वह तार्किक बनकर दुःख उठाता है क्योंकि उसने केवल बुद्धि का व्यायाम किया, अध्यात्म नहीं पढ़ा। गधा चंदन का भार ढोता है किन्तु उसका भोग कोई दूसरा भाग्यशाली ही करता है।’

हमारी अधिकांश समस्याएं शब्दों तक ही उलझ रही हैं। यह भी कहा जा सकता है कि अनेक समस्याएं केवल शब्दों का जाल है। हमारी दुर्बलता है कि भाषा और शब्दों के बिना काम नहीं चलता। अधिकांश समस्याएं शब्दगत एवं भाषागत हैं, जिनके बीच मनुष्य छटपटा रहा है। दिल्ली से राजस्थान के मार्ग में मैंने टूटी-फूटी सड़क देखकर एक कर्मचारी से कारण पूछा। उसने बताया— आपकी नजर में सड़क टूटी हुई है किन्तु सरकारी फाइलों में यह सड़क बन चुकी है। यह है शब्दों की समस्या। हमारी विवशता या दुर्बलता है कि हम उससे मुक्त नहीं हो पाते, किन्तु यदि मुक्ति की ओर अभिमुख हो जाएं तो भी बहुत काम हो जाएगा। मुक्ति, अध्यात्म और योग को लोगों ने जटिल मान लिया है और इस मार्ग की ओर बढ़ने का साहस नहीं जुटाते। धर्म, अध्यात्म और योग का अर्थ है हमारी अभिमुखता मुक्ति की ओर हो जाए।

वह सुख नहीं है

आज हम शरीर, मन और वाणी के द्वारा बंधे हुए हैं। इन तीनों के बंधन से यदि थोड़ा-सा भी छुटकारा प्राप्त हो सके तो आनन्द का नया स्रोत खुल जायेगा। आनन्द और सुख क्या हैं? भूख के लिए रोटी, प्यास के लिए पानी, शरीर के लिए वस्त्र आदि भोगकर व्यक्ति सुख का अनुभव करता है किन्तु क्या सचमुच वह सुख है? थोड़ी देर के बाद पुनः भूख लगती है, प्यास जग जाती है और अन्य आवश्यकताएं खड़ी हो जाती हैं। वह सुख दुःख में बदल जाता है। इस सुख-दुःख पर भारतीय शास्त्रों में बहुत विवेचन

किया गया है— जो आत्यन्तिक, निर्बाध एवं ऐकान्तिक है वही सुख है। भगवान् ने कहा— 'जेण सिया तेण नो सिया'—जिससे हो सकता है उससे नहीं भी हो सकता। सुख वह नहीं है जिसे हम मान रहे हैं। जो अनैकान्तिक है, जो बाधित है और जिसका निर्वाह अन्त तक नहीं है, वह सुख नहीं है।

आज ऐसा लगता है कि अपनी ही अविद्या के कारण सुख की अनुभूति से वंचित हो रहे हैं। ध्यान से सुख की अनुभूति होती है। खाने, पीने आदि से वह सुख नहीं। आप सोचेंगे— जो खाता-पीता नहीं, बोलता नहीं, केवल ध्यान करता है, उसे सुख कैसे मिल सकता है ? यह प्रश्न किसी ध्यानी से ही पूछें। जिस आनंद को अनुभव करने की स्थिति है वहां लोग कम जाते हैं, और अपने दिमाग का दरवाजा बंद रखते हैं। व्यक्ति बाहर ही ज्यादा भागता है, अपने अंतर की ओर अभिमुख नहीं होता। उसने स्वयं को भीतर जाने का अवकाश ही नहीं दिया। आज भौतिक विद्याओं में ही मनुष्य का ध्यान अटककर रह गया है। भौतिक विद्याएं आवश्यक हो सकती हैं, किन्तु क्या केवल उन्हीं की उपयोगिता है ? भौतिकता के अतिरिक्त हमें अध्यात्म की खिड़की से भी झांकना है और इसी का नाम है व्रत।

व्रत का दर्पण

व्रत नितान्त व्यावहारिक नहीं है। वह गहराई में बहुत आध्यात्मिक है। यह वह कवच है, जो हमें बाहर और भीतर दोनों ओर से रक्षित करता है। व्रत का दर्पण होगा नैतिकता। व्रती व्यक्ति जो स्वयं को नैतिकता के दर्पण में देखता है उससे समाज को कभी नुकसान नहीं होगा। उस व्रत के धरातल में अध्यात्म की भूमिका होगी। व्रत की बात प्रत्येक धर्म में है। महात्मा गांधी ने ग्यारह व्रत दिये। आधुनिक धार्मिक धार्मिक तो बनना चाहते हैं किन्तु व्रती नहीं बनना चाहते। इसीलिए आज धर्म तेजहीन बन गया है। धार्मिक भी जीवन-शुद्धि के लिए नहीं अपितु स्वर्ग के प्रलोभन अथवा नरक के भय से बचने के लिए बनते हैं। धार्मिक का व्रती नहीं बनना धर्म के साथ अन्याय है। व्रती बने बिना कोई आदमी धार्मिक नहीं बन सकता। आज धर्म का प्रथम पाठ पढ़ने की आवश्यकता है। लम्बी-चौड़ी परिभाषाओं और विवेचन में जाने की अपेक्षा व्रतों की सरल पगडंडी चुनना धर्म का प्रथम पाठ है।

धर्म की तोता-रटन्त

एक कुएं के ऊपर एक राजहंस आकर बैठ गया। मेंढक कुएं के भीतर से बोला—

रे पक्षिन् ! आगतस्त्वं कुत इह सरसस्तद् कियद् भो विशालं
कि मद् धाम्नोऽपि बाढं नहि नहि महत् पाप ! मा ब्रूहि मिथ्या ।
इत्थं कूपोदरस्थः सपदि तटगतो दुर्दुरो राजहंसं,
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति हि विषया नापरे येन दृष्ट्या : ।

पक्षी ! तू कहां से आया ? पक्षी ने कहा—मैं राजहंस हूं और मानसरोवर से आया हूं। मेंढक ने छलांग भरकर कहा—‘क्या तुम्हारा मानसरोवर इतना बड़ा है ?’ राजहंस ने कहा—‘इससे बहुत बड़ा है।’ मेंढक के इसी प्रकार अनेक छलांगें लगाईं। फिर वही उत्तर दिया मेंढक ने कहा—‘तुम झूठे हो। इससे बड़ा तुम्हारा मानसरोवर ही ही नहीं सकता।’ ओछा आदमी थोड़े पर गर्व करने लग जाता है क्योंकि उसने बहुत नहीं देखा।

... जो ओछा होता है, वह छोटा होता है। जो संकीर्ण है, उसको अहम् होता है। यही मनोदशा आज के व्यक्ति की है। व्यक्ति सोचता है कि मेरे धर्म, सम्प्रदाय, गुरु और धर्म-ग्रन्थ से बड़ा अथवा महान् कोई नहीं हो सकता। वह यह भी सोचता है कि मेरे चिन्तन से आगे, मेरे विचार से ज्यादा कहीं चिन्तन नहीं है। यहीं व्यक्ति अपने अस्तित्व को खतरे में डाल लेता है, विकास को अवरुद्ध कर देता है।

धर्म का लक्ष्य

हमें अन्तर्मुखी बनना है और देखने के लिए यही दृष्टि पर्याप्त नहीं है, अन्तर्-दृष्टि की अपेक्षा है। जो यह दृष्टि नहीं देता है, वह सच्चा साधु नहीं, गुरु और आचार्य नहीं। धर्म का लक्ष्य था—अन्तर्दृष्टि का विकास। योगी-ध्यानी सदा कहते रहे कि इन आंखों को मूंदकर देखने का अभ्यास करो। कानों को बंद कर अन्तर्नाद सुनो। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाओ। किन्तु हमने ध्यान नहीं दिया और धर्म के साथ बाह्य नियम को जोड़ दिया। धार्मिक को सहनशीलता मांगनी चाहिए, धन-वैभव और कष्ट से मुक्ति नहीं। आज का धार्मिक परिस्थिति को सहन करने की बात नहीं मांगता, परिस्थिति से ही छुटकारा मांगता है।

शब्दों के जाल में उलझा है आदमी

धार्मिक का पहला कर्तव्य होना चाहिए पवित्रता की ओर प्रयाण । पवित्रता के बिना धार्मिकता टिक नहीं सकती । शब्दों के जाल और रटी-रटाई बातों में धार्मिक फंसा हुआ है । अपना अनुभव जोड़ने की बात उसे नहीं आती है, दूसरों की कही-सुनी बातों को तोते की तरह रट रहा है । आवश्यकता है—जानी हुई बातों को अनुभव में उतारे ।

एक साधु ने सदगृहस्थ को 'सोऽहं' का जाप बताया क्योंकि सन्त अद्वैतवादी थे । कुछ दिनों के बाद द्वैतवादी संत आए और उन्होंने जब यह मन्त्र सुना तो नाराज होकर उस मन्त्र के पीछे दो अक्षर जोड़कर 'दासोऽहं' जपने का आदेश दिया । थोड़े दिनों के बाद पुनः अद्वैतवादी संत आए और 'दासोऽहं' जपते देखकर कहा—“यह क्या कर रहा है, मूर्ख ! इसे ठीक कर और कह—‘सदासोऽहं’ ।”

बेचारा किसान 'सदासोऽहं' जपने लगा द्वैतवादी संत भी वापस पहुंचे । मंत्र की दुर्दशा देखकर उन्हें दया आ गई और बोले—“नादान ! तू भगवान नहीं है । इस मंत्र के पीछे एक 'दा' और जोड़कर जाप कर—दास-दासोऽहं ।

मार्मिक चित्रण

किसान 'सोऽहं' से चलकर 'दासदासोऽहं' तक आ गया । इस कहानी में आज के धार्मिक का मार्मिक चित्रण किया गया है । वह दूसरों के चिन्तन पर चलना चाहता है । अपनी आँच पर तपाए सोने की तरह उपयोग नहीं करता, अपने अनुभव-चिन्तन-मनन का प्रयोग नहीं करता । अपनी अनुभूति के साथ सम्बन्ध जोड़े बिना, रटी-रटाई बातें सुनकर धार्मिक बनने का अहं करना खतरनाक है ।

लोग धर्म करते जाते हैं किन्तु क्या पीछे मुड़कर कभी देखते भी हैं, सचमुच धर्म कर रहे हैं या धर्म के नाम पर कुछ और ही हो रहा है ! धर्म किया और आनन्द तथा शान्ति मिली तब तो ठीक है अन्यथा धर्म के नाम पर उसकी छाया का सेवन हो रहा है । यदि धर्म करने के बाद भी शक्ति और तेज नहीं बढ़ा, वही कायरता मौजूद है तो पीछे मुड़कर देखने की जरूरत है ।

परिणाम धर्म का

धर्म के तीन परिणाम आते हैं :

१. चैतन्य अथवा ज्ञान का विकास ।
२. आनन्द का विकास ।
३. शक्ति का विकास ।

चैतन्य, आनन्द और शक्ति— इन तीनों का विकास हो रहा है तो समझें कि धर्म हो रहा है, अन्यथा नहीं । राग-द्वेष की अल्पता का होना ही धर्म है । धर्म के विषय में

गहरी जागरूकता से काम लेना चाहिए। धर्म से वह तत्त्व मिलना चाहिए, जो किसी भी दूसरी वस्तु से प्राप्त नहीं होता है।

धर्म है आत्मरमण

वर्षों तक दवा-सेवन के बाद भी यदि लाभ नहीं दीखे तो क्या वही दवाई लेते रहेंगे ? धर्म का अनुभव भी हमें उसी क्षण में होना चाहिए, जिस क्षण धर्म करते हैं। आनन्द और अतिरिक्तता हमें धर्म के साथ-साथ ही मिलने चाहिए। जैसे पानी और कपड़ा है। पानी ओढ़ा नहीं जा सकता, पिया जा सकता है; किन्तु कपड़ा पिया नहीं जा सकता, ओढ़ा जा सकता है। कपड़े और पानी की यही अतिरिक्तता है।

पैसों के द्वारा धर्म खरीदा नहीं जा सकता, धर्म द्वारा भौतिक लाभ होना जरूरी नहीं। भौतिकता का लाभ यदि धर्म के लाभ की तरह होता तो समझें वह धर्म नहीं। धर्म का लाभ है आनन्द। जो लाभ भौतिकता से नहीं मिल सकता, वह है आत्म-रमण। यह आत्म-रमण और आनन्द गुँगे का गुड़ है। इसीलिए हमारे साहित्य में शब्द आया है— अनिर्वचनीय एवं अवाच्य। धर्म को बताया नहीं जा सकता। भौतिकता के आवरण में लिपटे धर्म को करते जायेंगे तो वह प्राप्त नहीं होगा जो हमें चाहिए। अतिरिक्त धर्म की उपासना से ही अतिरिक्त आनन्द की प्राप्ति हो सकेगी।

यदि मनुष्य धार्मिक होता

मनुष्य सीमा में बंधा हुआ जन्म लेता है। असीम बनने का प्रयत्न उसका सिद्धान्त पक्ष है।

मनुष्य व्यक्ति के रूप में आता है, सामुदायिक बनता है जीवन की उपयोगिता के लिए।

वैयक्तिकता : सामुदायिकता

जीवन में कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो प्रसरणशील नहीं हैं। उनकी सीमा में मनुष्य की वैयक्तिकता सुरक्षित रहती है। कुछ तत्त्व प्रसरणशील होते हैं, वे उसे सामुदायिक बनाते हैं। समाज की भाषा में वैयक्तिकता अच्छी नहीं है, तो कोरी सामुदायिकता भी अच्छी नहीं है।

दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। व्यक्ति को सामुदायिकता के उस बिन्दु पर नहीं पहुंचना चाहिए, जहां उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही न रहे। उसे वैयक्तिकता की वह रेखा भी निर्मित नहीं करनी चाहिए, जो स्वार्थ के लिए औरों के अस्तित्व को अपने में विलीन कर दे। स्वस्थ विचार वही है, जो दोनों की मर्यादा का व्यवस्थापन करे।

वैयक्तिकता का नाश सत्तात्मक अधिनायकवाद से होता है। सत्ता को उत्तेजन देता है व्यक्ति का स्वार्थ—सामुदायिक सीमा का अतिक्रमण।

यदि मनुष्य क्रूर नहीं होता

मनुष्य में अपनी सुख-सुविधा के लिए एक विशेष प्रकार का रागात्मक मनोभाव होता है। वही उसे दूसरों के प्रति क्रूर बनाता है। यदि स्व के प्रति अनुराग न हो तो पर के प्रति क्रूर होने का कोई कारण ही न रहे। शत्रुता इसीलिए उत्पन्न होती है कि मनुष्य अपने हितों को दूसरों के हितों के विनाश की सीमा तक ले जाता है। यदि वह अपनी सीमा में रहे, तो सब एक-दूसरे के मित्र ही मिलें। मैत्री में जो आनन्द, शान्ति और अभय है, वह शत्रुता में नहीं है। शत्रु-भाव की सृष्टि सहज है, किन्तु उसके परिणामों से बचना सहज नहीं है। विश्व के रंगमंच पर अनेक रक्त क्रान्तियां हुईं। कुछेक व्यक्ति क्रूर बने। उन्होंने दूसरों के स्वार्थों पर आघात किया। क्रूरता ने क्रूरता को जन्म दिया। बहुत क्रूर बने और थोड़ों की क्रूरता को नहीं, किन्तु स्वयं को ही मिटा डाला। यह रक्तक्रान्ति का

इतिहास है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अपहरण या अधिनायकवाद का आधार व्यक्ति का स्वार्थ-विस्तार और उससे उत्पन्न क्रूरता है। मनुष्य अप्रमाणिक बनता है, खाद्य-वस्तुओं में मिश्रण करता है, शोषण करता है, दूसरों के हितों की उपेक्षा करता है, स्वल्पतम लाभ देकर अति लाभ लेता है; ये दोष जन्म नहीं लेते, यदि मनुष्य क्रूर नहीं होता।

यदि मनुष्य असहिष्णु नहीं होता

बहुत लोग ऐसे हैं, जो दूसरों को सहन नहीं कर सकते। वे अपनी मान्यता, अपने चिंतन और अपनी कार्य-पद्धति को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। अपने से भिन्न मत को सुनते ही उबल उठते हैं।

पारिवारिक कलह इसलिए होता है कि एक-दूसरे की स्वतन्त्र रुचि या भूल को सहन नहीं करते। जातीय-कलह की उत्पत्ति का भी यही कारण है। दूसरा उचित परामर्श देता है उसे सुनने की भी क्षमता नहीं होती। दूसरों के शिक्षा-वचनों को सुनने की भी क्षमता नहीं होती। दूसरों के शिक्षा-वचनों को सुनने की वृत्ति नहीं-जैसी है। बहुधा उत्तर होता है—मैं तुमसे अधिक जानता हूँ। बहुत छोटी बात को लेकर लड़ लेते हैं, गालियाँ देते हैं, तिरस्कार करते हैं, सम्मानयोग्य व्यक्तियों का सम्मान नहीं किया जाता। सामुदायिक शक्ति के उपयोग से वंचित रहते हैं, दल-बन्दी का प्रसार होता है, एक-दूसरे को गिराने का यत्न करते हैं, अपनी बात रखने की धुन में तथ्यों की तोड़-मरोड़ की जाती है—ये दोष जन्म नहीं लेते, यदि मनुष्य असहिष्णु नहीं होता।

यदि मनुष्य सामाजिक होता

क्रूरता और असहिष्णुता—ये दोनों असामाजिक तत्त्व हैं। समाज में रहने पर भी जो क्रूर है, असहिष्णु है, वह सामाजिक प्राणी नहीं है। मनुष्यों का समाज जैसे पत्थरों का ढेर नहीं है। वह अनुभूतिशील चेतनावान् प्राणियों का समुदाय है। उन सबमें प्रिय-अप्रिय का मनोभाव, सुख-दुःख का संवेदन, अनुकूल-प्रतिकूल स्थिति का प्रभाव, क्रिया का मनोभाव, क्रिया आदि-आदि तत्त्व हैं। जो मनुष्य अपनी प्रिय, सुखद और अनुकूल परिस्थिति बनाने के लिए दूसरों के लिए अप्रिय, दुःखद और प्रतिकूल परिस्थिति का निर्माण करता है, उसे क्या सामाजिक प्राणी कहा जा सकता है ?

मनुष्य-मनुष्य में बुद्धि-बल और क्रियात्मक शक्ति का तारतम्य है। एक बुद्धिमान् आदमी कम बुद्धि वाले लोगों को ठगता है, एक शक्तिशाली व्यक्ति, दुर्बल व्यक्तियों को अभिभूत करता है, क्रियात्मक शक्ति का दुरुपयोग कर दूसरों को बेकार करता है—ये दोष जन्म नहीं लेते, यदि मनुष्य सामाजिक होता।

यदि मनुष्य धार्मिक होता

धर्म का स्वरूप समता है। जिसमें समभाव नहीं है, राग-द्वेष या प्रिय-अप्रिय में, तटस्थ दृष्टिकोण नहीं है, वह धार्मिक नहीं है। सब आत्मा समान हैं—यह धार्मिक मान्यता

की रीढ़ है। दैहिक भेद वास्तविक नहीं है। जातीय, क्षेत्रीय, प्रान्तीय, राष्ट्रीय और भाषागत भेद कृत्रिम हैं, यह जानकर भी मनुष्य अपनी जाति का गर्व और दूसरी जाति का तिरस्कार करता है। क्षेत्रवाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद और भाषावाद के आधार पर मनुष्य मनुष्य में विरोध का बीज बोता है, मनुष्य की वास्तविक एकता को काल्पनिक सिद्धान्तों के आधार पर छिन्न-भिन्न करता है, मनुष्य मनुष्य का शत्रु बनता है—ये दोष जन्म नहीं लेते, यदि मनुष्य धार्मिक होता।

क्रूरता और असहिष्णुता अमैत्री के मूल हैं। सामाजिक जीवन में मैत्री की अपेक्षा है। धार्मिकता मैत्री का उद्गम-स्थल है। मैत्री के लिए उसकी चर्चा ही पर्याप्त नहीं है। आवश्यकता यह है कि क्रूरता और असहिष्णुता पर विजय पाने का यत्न किया जाए। उससे जीवन में धार्मिकता विकसित होगी और सामाजिक जीवन में मैत्री की जो अपेक्षा है, वह अपने-आप पूर्ण होगी।

स्वस्थ समाज की अपेक्षाएं

आज हिन्दुस्तान संक्रमणकाल में गुज़र रहा है। पुराने मूल्य बदल रहे हैं और नये मूल्य स्थिर नहीं हुए हैं। इसीलिए वह अनेक नई कठिनाइयों का सामना करने को विवश है। पुराने लोग धर्म को सर्वाधिक मूल्य देते थे। आज के बुद्धिवादी युवक की दृष्टि में उसका कोई मूल्य नहीं है। धर्म को सर्वाधिक मूल्य इसलिए दिया जाता था कि उससे मोक्ष मिलता है, मनुष्य सारे बन्धनों से मुक्त होता है। स्वतन्त्रता का मूल्य आज भी सर्वोपरि है। किन्तु उसका सम्बन्ध केवल राष्ट्र से है—भौगोलिक सीमा से है। मनुष्य की इन्द्रियों, मन और चेतना की स्वतन्त्रता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का सिद्धान्त पारलौकिक होते हुए भी इहलौकिक था। उसमें वर्तमान जीवन भी पूर्णरूपेण अनुशासित होता था। आत्मानुशासन और संयम का अविरल प्रवाह जहां होता, वहां दायित्वों, कर्तव्यों और मर्यादाओं के प्रति जागरूकता सहज ही हो जाती है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का सिद्धान्त सर्वथा इहलौकिक है। वर्तमान जीवन को अनुशासित करने के लिए इसे सर्वोपरि माध्यम माना गया है। किन्तु भारतीय युवक में जितनी धर्म-चेतना विलुप्त हुई है, उतनी राष्ट्रीय चेतना जागृत नहीं हुई है। इसीलिए उसमें आत्मानुशासन और संयम का अपेक्षाकृत अभाव है और इसीलिए वह दायित्वों, कर्तव्यों और मर्यादाओं के प्रति कम जागरूक है।

विनम्रता का हास

भारत का प्राचीन साहित्य विनय की गुण-गाथा से भरा पड़ा है। अविनीत विद्यार्थी विद्या का अपात्र समझा जाता था। अविनीत पुत्र पिता का उत्तराधिकार नहीं पा सकता था। अविनीत आदमी समाज में अनादृत होता था इसीलिए विनय को बहुत मूल्य दिया जाता था। वह व्यक्ति और समाज दोनों को एक शृंखला में पिरोए हुए था। आज अध्यापक विद्यार्थी को विनय के आधार पर विद्या नहीं देता। वह यह नहीं देखता कि उसका विद्यार्थी पात्र है या अपात्र। वह उसे पढ़ाता है, जो पहले वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है। उत्तराधिकार का प्रश्न आज मिट चुका है। समाज में वह अधिक समादृत होता है, जो अधिक जोड़-तोड़ कर सकता है। विनय को कोई प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है; उसे गुलाम-मनोवृत्ति का सूत्र माना जा रहा है। इसीलिए आज व्यक्ति और समाज दोनों एक सुदृढ़ शृंखला से आबद्ध नहीं हैं।

वचन का मूल्य

पुराने जमाने में यह माना जाता था कि वचन का मूल्य सर्वोपरि होता है। जो महान् आदमी होते हैं, उनके वचन पत्थर की लकीर के समान अमिट होते हैं। जिस आदमी का वचन जल ही लकीर के समान होता है, वह महान् नहीं माना जाता। वर्तमान में अपने वचन से मुकर जाना बड़ा कौशल है और बड़े आदमियों की खास पहचान है। पारस्परिक अविश्वास बढ़ाने में इसने बहुत बड़ा योग दिया है।

नैतिक मानदण्ड

पहले लोग केवल भारतीय थे। उनका सोचने-समझने का सारा ढंग भारतीय था। वे भारतीय पद्धति से ही जीते और उसी पद्धति से मरते थे। अब वैज्ञानिक उपलब्धियों ने सारे विश्व को बहुत निकट ला दिया है। अब भारतीय केवल भारतीय नहीं है, वह जागतिक है। इसलिए वह बहुत व्यापक दृष्टि से देखता है और उन्मुक्त मस्तिष्क से सोचता-समझता है। जब वह बुद्ध, महावीर, व्यास और शंकर को पढ़ता था तब उसे नैतिक मर्यादाएं अनिवार्य लगती थीं। अब वह फ्रायड को पढ़ता है तो उसे लगता है कि ये मर्यादाएं कृत्रिम हैं, इच्छाओं के दमन से निष्पन्न हैं। इनके पीछे वास्तविकता का कोई हाथ नहीं है। इसीलिए आज एक-एक कर मर्यादाएं समाप्त हो रही हैं। नैतिक मानदण्ड गिर रहे हैं। आज विश्वविद्यालयों में ब्रह्मचर्य की चर्चा उपहास का विषय बन जाती है। दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइस चान्सलर श्री गांगुली ने बातचीत के प्रसंग में कहा—“मुनिजी! हम जब पढ़ते थे तब हमें ब्रह्मचर्य के बारे में बहुत बातें बताई जाती थीं। हमारा यह विश्वास हो गया था कि ब्रह्मचर्य बहुत बड़ी शक्ति है।”

शक्ति-संचय बहुत आवश्यक है। आज स्थिति बहुत भिन्न है। विश्वविद्यालय में मैं ब्रह्मचर्य के बारे में कहूँ तो विद्यार्थी समझेंगे—यह किस युग की बात कर रहा है। आज ब्रह्मचर्य के प्रति बहुत आदर की भावना नहीं है। उसकी अच्छाई के प्रति आस्था भी नहीं है। इसीलिए आज विलास का निरंकुश चक्र चल रहा है।

स्वस्थ समाज की अपेक्षाएं

आत्मानुशासन संयम, विनम्रता, पारस्परिक विश्वास और इन्द्रिय-संयम—ये स्वस्थ समाज की अनिवार्य अपेक्षाएं हैं। प्राचीन समाज में ये अपेक्षाएं धर्म, विनय, वचन-निर्वाह और मर्यादाओं के द्वारा पूर्ण होती थीं। अब इनके प्रति निष्ठा कम हो रही है। इसीलिए आज का युवक इनसे दूर हो रहा है। इन नामों से भले ही कोई दूर हो जाए पर इन अपेक्षाओं से कोई सामाजिक प्राणी दूर नहीं हो सकता। आत्मानुशासन के अभाव से व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकती। जिस समाज में अपने-आप पर नियंत्रण करने की क्षमता होती है, उस पर राज्य का नियंत्रण बहुत कम होता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बहुत व्यापक होती है। जैसे-जैसे समाज में आत्म-नियंत्रण की शक्ति कम

होती है, वैसे-वैसे राज्य शक्ति व्यापक हो जाती है। लोग चाहते हैं— राज्य बड़ा न हो और व्यक्ति इतना छोटा न हो। यह चाह अनुचित भी नहीं है पर इसके लिए आत्म-नियन्त्रण की शक्ति का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।

विनय के बिना शिष्टता समाप्त हो जाती है और बड़ों के प्रति छोटों का व्यवहार अशिष्ट हो जाता है। जहां अनुज अपने पूर्वजों का सम्मान नहीं करते, वहां प्रेम की धारा सूख जाती है, जीवन रेगिस्तान बन जाता है। ऐसा न हो, वह सरसब्ज रहे, उसके लिए शिष्टता का पुनर्मूल्यन आवश्यक है।

धचन की प्रामाणिकता के अभाव में सामाजिक व्यवहार अस्त-व्यस्त हो जाता है। हर आदमी चाहता है हमारा व्यवहार ठीक ढंग से चले। पर उसके लिए कथनी और करनी की समानता का पुनर्मूल्यन आवश्यक है।

इन्द्रिय-संयम के बिना समाज शक्तिहीन बन जाता है। सब लोग चाहते हैं, हमारा समाज और राष्ट्र तेजस्वी रहे, पर उसके लिए इन्द्रिय-संयम का पुनर्मूल्यन अपेक्षित है।

समाज को शक्तिशाली रखना है, व्यवहार को सुश्रृंखलित रखना है, सरसता को बनाए रखना है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की लौ को प्रज्वलित रखना है तो उन पुराने मूल्यों को नया रूप देना ही होगा।

आज के समाज के लिए नये मूल्य होंगे—स्वतन्त्रता, शिष्टता, पारस्परिक विश्वास और संयम-शक्ति।

विशेषणहीन धर्म

आज का विद्यार्थी धर्म से बहुत कम परिचित है। साम्प्रदायिकता के कारण वह धर्म के नाम से सहमता है। यह माना जाने लगा कि धर्म की बात सोलहवीं शताब्दी की है किन्तु ऐसा मानना भूल है। साम्प्रदायिकता ने मनुष्य का अनिष्ट जरूर किया है किन्तु मौलिक धर्म जीवन की पवित्रता है। बौद्धिकता के उपरान्त भी स्वतंत्र चेतना का जागरण धर्म ही करता है। पानी में गंध आ सकती है किन्तु केवल इसीलिए पानी पीना नहीं छोड़ा जा सकता है। उसे साफ और शुद्ध करके पीया जाता है। इसी प्रकार धर्म के नाम पर या धर्म के साथ गंदगी अथवा साम्प्रदायिकता आयी है तो उसे मिटाकर शुद्ध कर सकते हैं लेकिन धर्म के नाम से भागने, सहमने और घबराने की आवश्यकता नहीं।

आचार्य तुलसी धर्म की बात तो करते हैं परन्तु वह धर्म विशेषणहीन है। वह है अणुव्रत। धर्म के पीछे जो परम्पराएं, उपासनाएं और क्रियाकांड हैं, उन सबको अणुव्रत के साथ नहीं जोड़ा गया, क्योंकि ये झगड़ों के निमित्त बन जाते हैं।

आस्था का प्रश्न

एक सेठ के यहां रसोइया था। उसका तिलक सेठ जी की तरह नहीं होता था। सेठजी सीधा तिलक निकलते थे और वह तिरछा तिलक करता था। सेठ ने उसे समझाया कि तिलक सीधा निकाला करो लेकिन रसोइया अपने विश्वास और सिद्धान्त पर अटल था। एक दिन सेठ ने धमकी देते हुए कहा— कल यदि सीधा तिलक नहीं निकाला तो नौकरी से निकाल दूंगा। दूसरे दिन रसोइया आया तो ललाट पर फिर तिरछा ही तिलक लगा था। सेठ ने डांटते हुए कहा—“मेरी आज्ञा नहीं मानकर फिर वही तिरछा तिलक किया है इसलिए अपना हिसाब कर लो।” रसोइए ने कहा—“मैंने तिलक सीधा किया है।” सेठ ने पूछा—“कहाँ है वह सीधा तिलक ?”

रसोइए ने कमीज हटाकर पेट पर बने सीधे तिलक को दिखाते हुए कहा—“ललाट का तिलक मेरा विश्वास है और पेट के लिए नौकरी करता हूँ इसलिए आपका तिलक पेट पर है।”

आज धर्म का प्रश्न तिलक, चोटी, नमाज और उपासना में ही उलझ गया है। जहां हमारे जीवन की पवित्रता का प्रश्न है, जीवन-संघर्ष में जहां जूझने का सवाल है वहां हमने मूल लक्ष्य को भुला दिया। अशिक्षा के साथ जीविका का प्रश्न जुड़ा हुआ है

किन्तु जीवन-संग्राम में जूझने की शक्ति धर्म ही देता है। अपने परिवार और कुटुम्ब के साथ सामंजस्य स्थापित करना धर्म के द्वारा ही सीखा जा सकता है। सामंजस्य-स्थापना की मनोवृत्ति धर्म के द्वारा विकसित होती है।

आवश्यक है संयम

स्कूल कॉलेजों में शारीरिक एवं बौद्धिक विकास होता है किन्तु बौद्धिक विकास के बाद भी कुछ विकास करना है। वह है चेतना का विकास। चेतना के विकास की कल्पना तक बौद्धिक नहीं कर सकता है। चेतना के विकास के सन्दर्भ में ही अणुव्रत की बात कही गई। व्रत आच्छादन है, सुरक्षा है। मकान की छत धूप, वर्षा, सर्दी आदि से सुरक्षा करती है, वैसे ही जीवन एवं मानसिक संघर्ष के समय व्रत ही उसे बचा संकता है। धर्म का मतलब ही है व्रत। यह हमारे जीवन की वह छत है जो हमें अनेक समस्याओं से बचा सकती है। व्रत का मूल है संयम। दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० गांगुली ने कहा कि हमने छात्र-जीवन में संयम सीखा, किन्तु आज छात्रों में संयम की बात करें तो उपहास होता है लेकिन संयम आवश्यक है। अणुव्रत का घोष है—संयम ही जीवन है। हमारा जीवन संयमित होना चाहिए। खाने, पीने, बोलने, चलने—सबमें संयम अपेक्षित है। गीता, आगम, त्रिपिटक सबमें संयम की बात कही है। धार्मिक वही है, जो संयमी है। आज संयम की बातें कम सुनाई जाती हैं। राजनैतिक दलों के नेता भी असंयम का ही पाठ पढ़ाते हैं।

अणुव्रत का दीप

छात्रों को धर्म-निरपेक्षता की बात कहकर संयम-साधना की शिक्षा से वंचित रखा जा रहा है। शिक्षा की अनेक शाखाएँ हैं किन्तु संयम की शाखा नहीं है। यदि यही स्थिति रही और शिक्षालयों में संयम की शिक्षा नहीं दी गई तो उच्छृंखलता और भी बढ़ेगी। यदि यही स्थिति रही तो भारत का रहा-सहा गौरव भी मिटता जायेगा। आज अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन, जापान आदि देशों में योग विद्या का अनुसंधान हो रहा है क्योंकि वे भौतिकता के परिणामों से संत्रस्त हो चुके हैं। अच्छा होगा यदि पहले ही हम संयम मार्ग को अपनाकर आनेवाले नये भौतिक परिणामों से बच सकें। शिक्षा देनेवालों का कर्तव्य है कि वे अपने छात्र-छात्राओं को शिक्षा की अन्य बातों के साथ-साथ धर्म और संयम की बात भी बताएं।

सारी संस्कृति अंधकार की अमा के बीच से गुजर रही है। इसमें अणुव्रत ही आलोक देगा और मानसिक शान्ति भी। घोर अमावस्या की रात्रि में आज अणुव्रत दीप की आवश्यकता है।

महावीर की वाणी में विश्वधर्म के बीज

भगवान् महावीर का जीवन साधना का जीवन था। उन्हें दीर्घतपस्वी कहा जाता है। भगवान् ने लम्बे समय तक तपस्या की थी। अपनी तपस्या के द्वारा उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था। जो व्यक्ति सत्य को नहीं प्राप्त करता, उस व्यक्ति के विषय में हमारी कोई श्रद्धा नहीं हो सकती। कम-से-कम एक सत्य-जिज्ञासु के मन में उसके प्रति बहुत आदर भाव नहीं हो सकता। भगवान् ने सत्य को सबसे अधिक महत्त्व दिया था और सत्य ही उनके लिए परम तत्त्व था। सत्य की जिज्ञासा उनमें प्रबल प्रज्वलित थी इसलिए महावीर और सत्य— ये दोनों पर्यायवाची जैसे शब्द बन गए। महावीर यानी सत्य और सत्य यानी महावीर। उनकी महावीरता सत्य में से प्रकट हुई थी। यदि महावीर में सत्य का आग्रह नहीं होता तो वे वीर होते किन्तु उनका वीरत्व और पराक्रम दूसरों के संहार में खप जाता। महावीर का सारा पराक्रम, शक्ति और विक्रम सत्य की शोध में खपा क्योंकि वे सत्यनिष्ठ थे। इसलिए उन्होंने कहा—“सच्चंमि धिइं कुव्वहा”—पुरुष ! तू सत्य में धैर्य कर। यदि सत्य को पा लिया तो तूने सब कुछ पा लिया। यदि सत्य को नहीं पाया तो तूने कुछ भी नहीं पाया।

सत्य शोध की पद्धति

सत्य की शोध के लिए उन्होंने एक पद्धति का अनुसन्धान किया, जिसका नाम है—अनेकान्तवाद या स्याद्वाद। भारतीय दर्शन के प्रांगण में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परा में अनेक आचार्य हुए हैं। किन्तु सत्य के सन्धान की पद्धति का सर्वांगीण निरूपण जो भगवान् महावीर ने किया, वह सर्वत्र समादरणीय है। भगवान् महावीर के निरूपण का सर्वाधिक मूल्य इसीलिए है कि उन्होंने कहा—“सत्य को कहीं सीमित मत करो। सम्प्रदाय, जाति और वर्ग में सत्य को बांधो मत, और उसे एक दृष्टि से मत देखो। जब तुम एक दृष्टि से सत्य को देखोगे तो तुम्हारा वह सत्य असत्य बन जाएगा। जब तुम सत्य को अनेक दृष्टियों से देखोगे तो तुम्हारा असत्य भी सत्य बन जाएगा।” असत्य को सत्य बनाने वाले लोग दुनिया में बहुत कम होते हैं और सत्य को असत्य बनाने वाले लोग दुनिया में बहुत होते हैं। महावीर ने जो पद्धति हमारे सामने पुरस्कृत की, उसके द्वारा असत्य को भी हम सत्य बना सकते हैं; बशर्ते कि हमारा दृष्टिकोण व्यापक हो और हम वस्तु

को विविध पहलुओं से देख सकें, परख सकें। इसलिए महावीर के द्वारा प्रतिपादित धर्म विश्वधर्म है।

जाति के प्रतिबंध से मुक्त

वर्तमान युग के अनेक विचारक और दार्शनिक इस बात के लिए उत्सुक हैं कि दुनिया में एक धर्म होना चाहिए। महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उसके लिए कर्नाटक प्रदेश के महान् आचार्य समन्तभद्र ने लिखा—“सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव”— भगवन् ! तुम्हारा शासन सर्वोदय है। विश्वधर्म वह हो सकता है, जो सबका उदय कर सके। जिसमें अमुक वर्ग का उदय करने की क्षमता हो यानी जो अमुक के लिए हो, वह सर्वोदय नहीं हो सकता और जो सर्वोदय है। विश्वधर्म वह हो सकता है जो सबका उदय कर सके। जिसमें अमुक वर्ग का उदय करने की क्षमता हो यानी जो अमुक के लिए हो, वह सर्वोदय नहीं हो सकता और जो सर्वोदय नहीं हो सकता, वह विश्वधर्म की योग्यता को भी प्राप्त नहीं कर सकता। विश्वधर्म की योग्यता उसी में आ सकती है, जो किसी एक का नहीं है। यदि महावीर का धर्म केवल जैनों के लिए होता है तो उसमें विश्वधर्म होने की कोई क्षमता नहीं होती। यदि महावीर का धर्म ओसवाल, अग्रवाल, खंडवाल आदि जातियों के लिए है तो उसमें विश्वधर्म होने की क्षमता नहीं है। महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, उस धर्म में जाति का कोई प्रतिबंध नहीं है।

सबका मार्ग

जम्बूस्वामी ने सुधर्मास्वामी से पूछा—“कयरे मग्गे अक्खाए”—भन्ते ! महावीर ने कौन-सा मार्ग बतलाया है जिससे हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं ? यह मैं जानना चाहता हूँ। सुधर्मास्वामी महावीर के तत्त्वज्ञान के उस समय के सबसे बड़े प्रवक्ता थे। उन्होंने शान्तभाव से कहा—“जम्बू ! पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस— ये छः प्रकार के जीव हैं। दुनिया में इनके अतिरिक्त कोई अन्य जीव नहीं।” कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता। किसी को भी दुःख प्रिय नहीं है। हर प्राणी सुख चाहता है। इसलिये किसी भी जीव की हिंसा न का जाए। यह महावीर का मार्ग किसका नहीं है ?

क्या कोई भी व्यक्ति इस बात को अस्वीकार कर सकता है कि प्राणिमात्र के साथ अपनी आत्मानुभूति, तादात्म्य और एकात्मकता की स्थापना किए बिना हम धार्मिक हो सकते हैं ? इस जीवन में तो क्या किसी भी जीवन में नहीं हो सकते। जब तक प्राणिमात्र के साथ हमारी एकात्मकता की अनुभूति नहीं होती, तब तक हमारे जीवन में धर्म का बीज अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित नहीं हो सकता। धार्मिक होने की सबसे पहली शर्त है कि प्राणिमात्र के साथ एकात्मकता की अनुभूति करना और उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित करना। यह है महावीर के द्वारा प्रतिपादित मार्ग।

पुनः प्रश्न खड़ा हुआ और सुधर्मास्वामी से पूछा गया— महावीर ने धर्म का

प्रतिपादन किसके लिए किया है ? क्या अपने अनुयायियों के लिए किया ? क्या जैनों के लिए या किसी अन्य वर्ग के लिए किया ? किसके लिए ? इसका क्या उत्तर हो सकता है ? महावीर ने जब धर्म का प्रतिपादन किया तब उनका कोई अनुयायी था ही नहीं । उनकी पहली सभा में, जिसमें उन्होंने धर्म का उपदेश दिया, कोई मनुष्य भी सुनने वाला नहीं था । उन्होंने जो सत्य देखा उसका निरूपण कर दिया । किसके लिए किया, इसके उत्तर में कहा गया—भगवान् ने किसी एक प्राणी के लिए धर्म का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु कोई प्राणी किसी प्राणी को नहीं मारे इसलिए भगवान् ने धर्म का प्रतिपादन किया ।

यह है धर्म का विस्तृत और व्यापक दृष्टिकोण । उनका धर्म किसी वर्ग विशेष के लिये नहीं है । महावीर का धर्म उस व्यक्ति के लिये है, जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता और किसी भी जीव को पीड़ित नहीं करता । किसी भी प्राणी को मत मारो, किसी भी प्राणी को मत सताओ, किसी भी प्राणी को अपना दास मत बनाओ, किसी भी प्राणी पर हुकूमत मत करो और किसी भी प्राणी को अपने अधीन मत रखो ।' यह मेरा धर्म है । यह महावीर का धर्म, जिसे हम शाश्वत तथा व्यापक धर्म कह सकते हैं, कितना सर्वोदयी है ?

कुलकर से राजतंत्र तक

वर्तमान की दुनिया में स्वतंत्रता का जितना मूल्यांकन हुआ है, शायद पिछले किसी भी युग में नहीं हुआ । हम आदिकाल से लें । आदिकाल का इतिहास एक वनवासी इतिहास है । मनुष्य सामाजिक नहीं था, जंगल में रहता था । जब से वह सामाजिक बना और समाज में रहने लगा, हमारे यहां कुलकर की पद्धति शुरू हुई । शासन कौटुम्बिक व्यवस्था के रूप में चलता था । कुटुंब का मुखिया सब कुछ होता था । वह यदि चाहता तो किसी को मार भी सकता था । उत्तराधिकार कुटुम्ब का चलता था । सारी कौटुम्बिक पद्धति चलती थी । फिर उसका विकास हुआ तो राजतंत्र आया । राजतंत्र में राजा को सर्वाधिकार दिया गया । उसे इतने अधिकार दिए गए कि राजा को ईश्वर का रूप और अवतार मान लिया गया । राजा जो चाहता कर सकता था । उसे सब कुछ करने का अधिकार था ।

दास प्रथा का युग

आरम्भ के इतिहास से लेकर राजतंत्र के इतिहास तक स्वतंत्रता नाम की कोई चीज नहीं थी । स्वतंत्रता का कोई विशेष मूल्य नहीं था । हमारे यहां 'बेगार' ली जाती थी, कौटलीय अर्थशास्त्र और जैन साहित्य में जिसे 'वेष्टि' कहा गया है । जिस व्यक्ति के मन में आया कि इससे काम लेना है, उसे दाम देने की कोई बात नहीं, मूल्य चुकाने की कोई बात नहीं, उसके जीवन-निर्वाह की चिन्ता की कोई बात नहीं, किन्तु उससे काम लेना सरकार या राज्य का अधिकार था । अतः एक बैल से जैसे काम लिया जाता है

उसी प्रकार आदमी से काम लिया जाता था। हिन्दुस्तान में दास प्रथा चालू थी। आदमी आदमी को खरीद लेता था और दास बना लेता था। आज के नौकर की दास से तुलना नहीं की जा सकती। अगर आप थोड़ी-सी आँख दिखाएं तो आज का नौकर नौकरी छोड़कर जा सकता है, किन्तु दास नहीं जा सकता था। दास इतना अधीन होता कि मालिक एक कुत्ते के साथ जैसा व्यवहार कर सकता है वैसा वह दास के साथ कर सकता था। आज तो शायद वह कुत्ते को मार नहीं सकता किन्तु उस समय वह दास को मार सकता था। उसके नाक-कान काट लेता, जीभ निकाल लेता, जीभ पर शीशा उबालकर डाल देता और उसके टुकड़े-टुकड़े भी कर सकता था। एक आदमी दूसरे आदमी के साथ इतना क्रूर और निर्दय व्यवहार कर सकता था कि उसे कोई कहने वाला नहीं था। वह थी हमारी परतंत्रता की स्थिति। आदमी इतना परतंत्र था कि कुछ बोल भी नहीं सकता था।

आज कितना विकास हुआ है ? पराधीनता कितनी समाप्त हो गई है ? आज कोई भी बड़े-से-बड़ा शासक खुला अत्याचार नहीं कर सकता। छिपकर करता है तो भी उसकी इतनी तीव्र आलोचना और भर्त्सना होती है कि शायद उसे अपना त्यागपत्र देने के लिए भी बाध्य होना पड़ सकता है।

स्वतंत्रता पर बल

आज के जनतंत्र की विशेषता है—स्वतंत्रता। हमारे भारतीय साहित्य और इतिहास में स्वतंत्रता पर भगवान् महावीर ने आरंभ से जितना बल दिया, मैं समझता हूँ उतना अन्यत्र कम मिलेगा। भगवान् महावीर का मूल प्रतिपादन था—‘पुढो सत्ता’ यानी हर व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है। तुम्हें दूसरे की स्वतंत्रता को कुचलने का कोई अधिकार नहीं है। बाप को यह अधिकार नहीं कि बेटे पर वह शासन करे। महावीर ने यहाँ तक कह दिया—आचार्य को भी शिष्य पर बल-प्रयोग से शासन करने का अधिकार नहीं है। हमारे यहाँ पर ‘इच्छाकारण’ का प्रयोग होता है। महावीर ने कहा—“आचार्य भी शिष्य के लिए ‘इच्छाकारण’ का प्रयोग करे। तुम्हारी इच्छा हो तो यह काम करो न कि तुम्हें यह करना पड़ेगा। स्वतंत्रता को कितना मूल्य दिया गया है ! एक व्यक्ति महावीर के पास आता और कहता— भगवान् ! मैं यह काम करना चाहता हूँ। हजार स्थलों पर आगम सूत्रों में महावीर कहते हैं—‘अहासुहं देवानुप्पिया’—‘देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसा सुख हो, वैसा करो।’ कहीं भी नहीं कहा गया— तुम्हें यह काम करना पड़ेगा। महावीर ने व्यक्ति की स्वतंत्रता, उसकी आत्मचेतना और उसके स्वतंत्र अस्तित्व को प्रदीप्त और प्रज्वलित करने में एक ऐसा वातावरण और अवसर दिया कि व्यक्ति अपने सहारे खड़े हो। बैसाखी के सहारे लंगड़ाते हुए चलने का उन्होंने कभी किसी को प्रोत्साहन नहीं दिया।

महावीर की प्रमुख देन

स्वतंत्रता का घोष जो महावीर ने प्रदीप्त किया, आज के जनतंत्र में वह क्रियान्वित

हो रहा है। ऐतिहासिक वातावरण में कोई भी सिद्धान्त जो फलित होता है या चालू होता है, उसके पीछे वर्तमान की पृष्ठभूमि होती है। महावीर गणतंत्र के युग में जन्मे थे। वह वैशाली का गणराज्य था। वैशाली का गणराज्य आज के जनतंत्र जैसा नहीं था, फिर भी वहां स्वतंत्रता का वातावरण था। उनमें राजा कोई नहीं था। उनका मुखिया था महाराज चेटक। सभी सामन्त मिलकर राज्य की व्यवस्था करते थे। एक व्यक्ति का शासन नहीं था। उन संस्कारों में पले महावीर ने जो संस्कार दिये, उनमें से उस राज्य को बल मिला, पुष्टि मिली और गणतंत्र का विकास हुआ। स्वतंत्रता महावीर की प्रमुख देन है।

समता धर्म का प्रतिपादन

महावीर ने दूसरी सबसे बड़ी बात समानता की दी। समता का विकास जितना महावीर के आस-पास हुआ और उन्होंने उस पर जितना बल दिया, वह बहुत ही स्मरणीय है। महावीर के धर्म का नाम क्या था? आज लोग कहते हैं—जैन धर्म। किन्तु एक ऐसा युग था, जब जैन धर्म नाम नहीं था। हमारे पुराने साहित्य में जैन धर्म जैसा नाम नहीं मिलता। महावीर के धर्म का नाम था सामायिक धर्म—समता का धर्म। सूत्रकृतांग सूत्र में बतलाया गया—‘समया धम्म मुदाहरे मुणी’—महावीर ने समता के धर्म का प्रतिपादन किया। उसी सूत्र में आगे बतलाया गया—एक चक्रवर्ती सम्राट् दीक्षित होता है और एक चक्रवर्ती के दास का दास, उससे पहले दीक्षित हो जाता है तो चक्रवर्ती का यह धर्म है कि अपने दास का दास जो पहले दीक्षित हो चुका है, के चरणों में वह गिर जाए। वह यह नहीं सोचे कि मैं चक्रवर्ती इसका मालिक था और यह तो मेरे दास का भी दास था। यह सोचना विषमता की बात है। महावीर के शासन में ऐसा नहीं हो सकता। यह समता का प्रतिपादन सामायिक का प्रतिपादन है। कहा जा सकता है—जो समता को नहीं जानता, सामायिक को नहीं जानता, वह महावीर के शासन को नहीं जानता। धर्माचरण में सबसे पहला स्थान सामायिक का है। हर श्रावक के लिए विधान है कि वह सामायिक करे। साधु के लिये विधान है कि साधु वही हो सकता है, जो सामायिक करता है। मुझे नहीं मालूम कि समता की साधना करने वाली सामायिक कौन करता है या नहीं करता है। रुद्धि तो चलती है। एक मुहूर्त के लिए बैठ जाते हैं, मुंह बाँध लेते हैं, हाथ में प्रमार्जिनी भी ले लेते हैं पर समता की आराधना कितनी करते हैं, इसका पता नहीं। श्रावक के लिये, हर जैन के लिए या महावीर को माननेवाले हर व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था कि वह कम से कम दिन में एक या दो बार समता की आराधना करे।

प्रश्न है सत्य का

आज वह समता की आराधना शायद क्रियाकाण्ड में बदल गई। उसका हार्द छूट गया। विषमता का भाव रखनेवाला कोई भी महावीर के धर्म को समझने वाला नहीं हो

सकता । आनन्द एक उपासक-श्रावक था और गौतम थे भगवान महावीर के सबसे बड़े शिष्य और पहले गणधर । वे चौदह हजार साधुओं में सबसे ज्येष्ठ थे । गौतम आनन्द के घर गए ।

आनन्द ने कहा—“भन्ते ! मुझे अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है और मैं इतना लोक देख रहा हूँ । क्या श्रावक को ऐसा हो सकता है ?”

गौतम ने कहा—‘हो सकता है, पर इतना बड़ा नहीं ।’

“भन्ते ! मुझे ऐसा हो रहा है और मैं साक्षात् देख रहा हूँ ।”

“यह गलत बात है । ऐसा नहीं हो सकता है । आनन्द ! अनशन में तुम झूठ बोल रहे हो । अतः तुम्हें प्रायश्चित्त करना चाहिए ।”

आनन्द ने कहा—“भन्ते ! प्रायश्चित्त जो झूठ बोले उसे करना चाहिए या सत्य बोले उसे ?”

गौतम ने कहा— “जो झूठ बोले उसे करना चाहिए ।”

आनन्द ने कहा—“तो भन्ते ! प्रायश्चित्त आपको ही करना होगा ।”

गौतम के मन में छटपटाहट हो गई । वे महावीर के पास आए और बोले—“भन्ते ! आज मैं आनन्द के पास गया था । उसने किहा कि मुझे इतना अवधिज्ञान हुआ है और मैंने कहा कि इतना हो नहीं सकता । भन्ते ! वह झूठा है या मैं ?” भगवान् ने कहा—“तुम झूठे हो । जाओ, आनन्द से क्षमायाचना करो ।”

अगर कोई थोड़ी-बहुत विषमता की दृष्टिवाला होता तो कहता कि ‘चलो, कोई बात नहीं, बड़े शिष्य हो, जैसा कह दिया, ठीक है ।’ किन्तु महावीर के मन में समता का इतना विकास था कि उनके सामने गौतम और आनन्द का प्रश्न नहीं था । सारा प्रश्न सत्य का था । सत्य के सामने गौतम गौतम नहीं था और आनन्द आनन्द नहीं था ।

कल्पातीत व्यक्तित्व की कल्पना

यह समतावादी दृष्टिकोण, जिस पर महावीर ने इतने विस्तार से विचार किया, गुरुदेव तुलसी ने नई शैली में प्रतिपादित करना शुरू किया । उन विचारों को थोड़ा-सा मैंने लिखा । वह लेख छपा तो हमारे कई जैन बंधुओं में बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई कि महाराज तो साम्यवादी हो गए । मुझे लगा कि क्या साम्यवाद महावीर के सिद्धान्त तक पहुंच सकता है ? जिस साम्यवाद में शासन की सारी व्यवस्था एकाधिनायकवाद, डिक्टेटरशिप की है, जहां दूसरे की जबान पर ताला लगा दिया जाता है, क्या वहां समता की बात हो सकती है ? समता की बात वहां हो सकती है जहां व्यक्ति को इतनी उन्मुक्तता हो कि प्रतिबंध नाम की कोई चीज न हो । आप कहेंगे कि क्या साधु के प्रतिबन्ध नहीं है ? पर यह ज्ञात होना चाहिए कि महावीर ने जो साधना की भूमिका प्रस्तुत की उसमें एक शब्द का प्रयोग किया है—कल्पातीत । कल्पातीत यानी शासनविहीन राज्य जिसकी कल्पना मार्क्स ने की थी । कल्पातीत के लिए कोई कल्प नहीं होता । हमारी साधना की एक वह स्थिति

आती है जहां शास्त्र की सारी मर्यादाएं समाप्त हो जाती हैं। कल्पातीत के लिये कोई शास्त्र नहीं होता। हम लोग कोई काम करते हैं तो लोग कहते हैं कि शास्त्र में तो ऐसा लिखा है किन्तु कल्पातीत को कोई कहने वाला नहीं है कि शास्त्र में ऐसा नहीं लिखा है। वह स्वयं शास्त्र होता है। कल्पातीत के लिये कोई वचन और नियम नहीं होता। हम लोग तो आज एक स्थान पर एक महीना रह सकते हैं। चातुर्मास में चार महीना रहते हैं। कल्पातीत एक जगह पचास वर्ष रह जाए तो भी उसे कोई कहने वाला नहीं है कि तुम क्यों रहते हो ? सारी मर्यादाएं, सारे शास्त्र, विधान और अनुशासन समाप्त कर स्वयं के अनुशासन से ही वह स्वयं का संचालन करने वाला होता है। यह है राज्यविहीन स्थिति। यह साधना की उत्कृष्ट भूमिका है, उसे कहा गया है—कल्पातीत। महावीर के सिद्धान्त का, क्रिया का, आचार का, साधना की पद्धति का, उन्मुक्तता का जो विकास है, वह है कल्पातीत की ओर जाने की प्रक्रिया। इस प्रकार महावीर की दूसरी सबसे बड़ी बात थी—समानता।

प्रामाणिकता

महावीर की तीसरी बात है—प्रामाणिकता। आज महावीर के धर्म को हमने भुला दिया। आज महावीर के अनुयायी और कुछ करते हैं या नहीं पर महावीर की पूजा जरूर करते हैं। पर आपको आश्चर्य होगा कि महावीर ने कहीं भी शायद अपनी वाणी में नहीं कहा कि किसी की पूजा करो। उपासना धर्म का उन्होंने प्रतिपादन नहीं किया। उन्होंने केवल आचार-धर्म का, नीतिधर्म का प्रतिपादन किया।

यदि नैतिकता को, प्रामाणिकता और चरित्र को निकाल देंगे तो महावीर का धर्म समाप्त हो जाएगा। उपासना तो बहुत बाद में चली है। महावीर की वाणी को हमने देखा किन्तु आज तक एक भी वाक्य नहीं मिला कि उपासना की जाए या क्रियाकाण्ड किए जाएं। केवल आचार-धर्म और चरित्र-धर्म ही वहां प्राप्त होता है। मोक्ष के तीन मार्ग बतलाए हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र। इनमें उपासना की बात कहां है ? महावीर ने स्वतंत्रता, समानता और प्रामाणिकता—ये तीन ऐसे दृष्टिकोण हमारे सामने प्रस्तुत किए थे, जिनके आधार पर महावीर के धर्म को विश्वधर्म का रूप दिया जा सकता है। उनका सारा प्रतिपादन सबके लिये था, विश्व के लिये था। उसमें कहीं भी कोई रेखा या भेद जैसी चीज नहीं थी।

विज्जल और बसवेश्वर

आज हमारी कठिनाई यही है कि जैन एक समाज बन गया। जैन एक जाति बन गई और महावीर का धर्म उसमें बंध गया। हम लोग धारवाड़ में कर्नाटक युनिवर्सिटी में गए। वहां के वाइस चांसलर और रजिस्ट्रार हमारे साथ थे। उन्होंने दो-चार-छोटी-सी पुस्तकें हमें दीं। हम उन्हें लेकर स्थान पर आए। उनमें 'महात्मा बसवेश्वर' नामक

एक पुस्तक थी। उसमें बसवेश्वर के बारे में पढ़ा तो मन पर एक प्रतिक्रिया हुई। राजा बिज्जल जैन था और बसवेश्वर शैव थे। बसवेश्वर ने अन्तर्जातीय विवाह करवाया और राजा ने उसको व सम्बन्धित व्यक्तियों को कुचल डाला। महावीर का सिद्धान्त था कि जातिवाद को अस्वीकार करो। बसवेश्वर अस्पृश्यता और जातिवाद को मिटाने के लिए तत्पर थे। जो जैन लोग थे वे कुछ जातिवाद का समर्थन कर रहे थे। मुझे लगा कि कुछ लोगों में जैन धर्म की जो रूढ़ता आ गई थी, उसकी प्रतिक्रिया मात्र बसवेश्वर के मन में थी। रजिस्ट्रार ने बसवेश्वर के कई वाक्य सुनाए। उन्होंने कहा—बसवेश्वर का पहला वाक्य है—‘क्रोध मत करो।’ साथ-साथ मैं भी महावीर की वाणी को दोहराता गया—‘कोहं असच्चं कुव्वेज्जा।’ उन्होंने कहा—बसवेश्वर का दूसरा वाक्य है—किसी की निन्दा मत करो। मैंने कहा—महावीर का है—‘पिड्ढिमंसन खाएज्जा’—दूसरे की चुगली मत करो। एक-एक वाक्य हम बोलते गये। ऐसा लगा कि सिद्धान्तों में कहीं कोई अन्तर नहीं है। केवल प्रतिक्रिया थी और उस प्रतिक्रिया के कारण सारा का सारा ऐसा हुआ।

विश्वजनीन सिद्धांत

महावीर ने जो सिद्धान्त दिए थे, वे किसी को लक्ष्य में रखकर नहीं दिए थे कि अमुक वर्ग को देना है। सौभाग्य या दुर्भाग्य कुछ भी कहें, जो इतना व्यापक धर्म था, वह एक जाति के रूप में बदल गया यानी जैन एक जाति बन गई। जैन कोई जाति नहीं हो सकती। एक मुसलमान भी जैन हो सकता है, ईसाई भी जैन हो सकता है, हिन्दू भी जैन हो सकता है। क्योंकि जैन कोई जाति नहीं है। आचार्य तुलसी बहुत बार कहते हैं कि ‘जैन धर्म’ को मैं जन धर्म बनाना चाहता हूँ। विनोबाजी ने एक बार बहुत सुन्दर कहा था कि ‘जैन धर्म अपने दया, अहिंसा, प्रेम और मैत्री को व्यापक बनाकर दूसरों में खप जाए तो भी वह कोई हानि नहीं होगी।’ यह बहुत सुन्दर और गहरी बात थी। ये विश्वजनीन और सार्वजनीन सिद्धांत तथा इन्हे देखने की अनेकान्तदृष्टि, इस सारे चक्रव्यूह को लेकर हम विचार करें तो कि महावीर का धर्म बहुत व्यापक था।

उदार दृष्टि

यह उस समय की बात थी जब किसी से पूछा जाता हमारी मुक्ति कब होगी ? तो कहा जाता—‘सए सए उवट्ठाणे’—मेरे उपस्थान में आ जाओ, तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी। पुनः प्रश्न होता कि तुम्हारे सम्प्रदाय में नहीं आए तो ? उत्तर मिलता—‘सिद्धिमेव न अन्नहा’—अन्यथा तुम्हारी सिद्धि नहीं होगी। यानी मेरे सम्प्रदाय में आओ तो तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा तुम्हारी मुक्ति नहीं होगी। मेरे कुएं का पानी पीओ तो तुम्हारी प्यास बुझेगी अन्यथा नहीं बुझेगी। मेरे घर में आओ तो तुम्हें प्रकाश मिलेगा, बाहर रहो तो नहीं मिलेगा।

महावीर से पूछा गया—“भन्ते ! क्या अन्यलिङ्गी यानी आपके शसन को नहीं माननेवाला, उससे बाहर भी कोई साधु या संन्यासी है ? क्या वह मुक्त हो सकता है ?”

महावीर ने कहा—हो सकता है । यदि सम्यग्-दर्शन, ज्ञान और चरित्र आए तो किसी भी शासन में रहकर वह मुक्त हो सकता है । उसे ‘अन्यलिङ्गसिद्ध’ कहा गया यानी दूसरे सम्प्रदाय में मुक्त होने वाला ।”

महावीर से पूछा गया—“क्या मुक्त होने के लिये साधु होना जरूरी है ? क्या कोई गृहस्थ के वेश में मुक्त नहीं हो सकता ?” महावीर ने कहा—“हो सकता है, यदि वास्तव में साधु बन जाए, चाहे वेश गृहस्थ का हो ।” इसे ‘गृहलिङ्गसिद्ध’ कहा गया यानी गृहस्थ में सिद्ध होने वाला ।

महावीर से पुनः पूछा गया—“भन्ते ! क्या धर्म की विधिवत् उपासना करने वाला ही मुक्त होता है या और भी कोई मुक्त हो सकता है ?” उन्होंने कहा—“आत्मा की पवित्रता हो जाए तो विधि-विधानों की कोई जरूरत नहीं । इनके बिना भी मुक्त हो सकता है ।” इस प्रकार सिद्ध होने वाले को उन्होंने ‘असोच्चाकेवली’ कहा । ‘असोच्चाकेवली’ यानी अश्रुत्वा केवली । आप आश्चर्य करेंगे कि जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में धर्म का एक शब्द नहीं सुना, जो व्यक्ति नहीं जानता, कि धर्म किसे कहते हैं, जो धर्म की व्याख्या और परिभाषा करना नहीं जानता वह व्यक्ति अपने जीवन में मुक्त हो जाता है, केवली और सर्वज्ञ बन जाता है ।

विश्वधर्म का प्रतिपादन

यह है दृष्टि की उदारता । यदि कोई संकीर्ण व्यक्ति होता तो कहता—गृहस्थ जीवन में मुक्त नहीं हो सकता । मेरे सम्प्रदाय के सिवाय दूसरे समप्रदाय में कोई मुक्त नहीं हो सकता । और धर्म के विधि-विधानों, क्रियाकाण्डों को करनेवाला मुक्त नहीं हो सकता है किन्तु ‘अन्यलिङ्गसिद्ध’, ‘गृहलिङ्गसिद्ध’ और ‘असोच्चाकेवली’—ये तीन शब्द इतने व्यापक हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि महावीर की वाणी में विश्वधर्म के प्रतिपादन की क्षमता है ।

इतने विशाल, व्यापक और महान् सिद्धान्त के व्याख्याता, प्रवक्ता और अनुशास्ता भगवान् महावीर हुए । उन्हें समझना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए तो इतना दुर्लभ है कि जैसे-जैसे मैं महावीर को पढ़ता जाता हूँ, ऐसा लगता है कि नई-नई समस्याएं सामने उभरती जाती हैं । समस्या के समाधान के लिए पढ़ता हूँ तो पचास समस्याएं और नई सामने खड़ी हो जाती हैं ।

महावीर के अनन्त चक्षुओं और अनन्त दृष्टियों को समझने के लिये मुझे भी कोई ऐसी दृष्टि प्राप्त हो । जिससे इस दुर्गम दुर्ग को हटाकर, सरलता से उनके पास जाने का अवसर मिल सके ।

महात्मा गांधी की आध्यात्मिकता

महात्मा गांधी का व्यक्तित्व विशाल हिमखंड जैसा था। उसका सिरा राजनीतिक था और उसका आंतरिक भाग आध्यात्मिक। उन्होंने अपने जीवन में अनेक काठेनाइयों का सामना किया। अनेक शारीरिक कष्टों और यातनाओं को झेला। उनका मनोबल सबके सामने आया। तपोबल भी सामने आया। इनकी पृष्ठभूमि में छिपा हुआ था अध्यात्म बल। उसे बहुत कम लोग जान पाए। अध्यात्म सूक्ष्म जगत का तत्व है। स्थूल जगत् में विचरने वाले लोग वहां तक बहुत कम पहुंच पाते हैं। आज भी गांधी को मानने वाले उनकी अहिंसा को पकड़ते हैं, ग्यारह व्रतों को महत्व देते हैं किन्तु अहिंसा की पृष्ठभूमि में रही हुई अध्यात्म चेतना को नहीं पकड़ पा रहे हैं। समाज के क्षेत्र में काम करने के लिए व्यक्ति को व्यावहारिक होना पड़ता है किन्तु जो अपने अंतस्तल में भी व्यावहारिक होता है, वह समाज का बहुत भला नहीं कर पाता।

गांधी की आध्यात्मिकता

गांधीजी का जन्म एक धार्मिक परिवार में हुआ था। उन्हें धर्म के संस्कार एक जैन मुनि से मिले और अध्यात्म के बीज श्रीमद् राजचंद्र से मिले। उनकी आध्यात्मिकता ने उन्हें भौतिकवाद के झंझावतों से कभी आहत नहीं होने दिया। वर्तमान सभ्यता के बारे में उन्होंने जो कुछ लिखा, उसमें उनकी आध्यात्मिक गहराई को देखा जा सकता है—

“सरल जीवन पेचिदा जीवन से अच्छा है, क्योंकि सरल जीवन में उच्च संस्कारों की ओर ध्यान देने के लिए समय मिल जाता है। प्राचीन सभ्यता में भागदौड़ बिल्कुल नहीं थी। आजकल लोग नीचे जमीन की ओर देखते हैं, उन दिनों वे आकाश की ओर देखते थे। वे अपना ध्यान शरीर पर केन्द्रित नहीं करते थे, अपितु आत्मा पर केन्द्रित रखते थे, जिसे वे शरीर से बिल्कुल पृथक् देखते थे। उनकी दृष्टि में शरीर-सुख जीवन का एकमात्र उद्देश्य नहीं था। आजकल लोग धन की सेवा करते हैं और उस समय ईश्वर की सेवा करते थे। अगर मैं यह न सोचता कि आत्मा का अस्तित्व है और अगर मैं यह न मानता कि हम सबमें एक ही आत्मा विराजती है, तो मैं इस पृथ्वी पर जीना नहीं चाहता, बल्कि मर जाना चाहता। शरीर आत्मा के अधीन रहने वाला एक वाहन है। शरीर केवल

मिट्टी है, स्थूल वस्तु है और अवांछनीय है ।’

“प्राचीन सभ्यता मनुष्यों को जीवन की उच्चतर साधनाओं—ईश्वरीय प्रेम, पड़ोसी का आदर और आत्मा की उपस्थिति का भान की ओर देखने की प्रेरणा करती थी । जितने ही शीघ्र लोग उस जीवन की ओर लौट जायें उतना ही अच्छा है ।”

आध्यात्मिक राम

गांधीजी ने राम का नाम बहुत बार लिया और वे प्रार्थना सभाओं में “रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीता राम” की धुन भी लगाया करते थे, किन्तु उनका आध्यात्मिक राम दूसरा है । उसकी गहराई तक जाने का प्रयत्न बहुत कम हुआ है—

“हम जिस राम के गुण गाते हैं, वे राम वाल्मीकी के राम नहीं हैं, तुलसी “रामायण” के राम भी नहीं हैं । हालांकि तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसे मैं अद्वितीय ग्रंथ मानता हूँ तथा एक बार पढ़ना शुरू करने पर कभी उकताता नहीं, तो भी हम आज तुलसी के राम का स्मरण करने वाले नहीं हैं और न गिरधरदास के राम का । तब फिर कालिदास और भवभूति के राम का तो कहना ही क्या ? भवभूति के उत्तररामचरित्र में बहुत सौंदर्य है, किन्तु उसमें वे राम नहीं हैं, जिनका नाम लेकर हम भवसागर तर सकें या जिनका नाम हम दुख के अवसर पर लिया करें । मैं असह्य वेदना से पीड़ित व्यक्ति हूँ कि राम नाम लो । अगर नींद न आती हो तो भी कहता हूँ कि “राम नाम लो” । किन्तु ये राम तो दशरथ के कुंवर या सीता के पति राम नहीं हैं । ये तो देहधारी राम ही नहीं हैं । जो हमारे हृदय में बसते हैं, वे राम देहधारी हो ही नहीं सकते । अंगुठे के समान छोटा-सा तो हमारा हृदय और उसमें भी समाए हुए राम देहधारी क्यों कर हो सकते हैं ।’

जब तक हम देह की दीवार के पार नहीं देख सकते, तब तक सत्य और अहिंसा के गुण इसमें पूरे-पूरे प्रकट होने वाले नहीं हैं । जब सत्य के पालन का विचार करें तब देहाध्यास छोड़ना ही चाहिए, क्योंकि सत्य के पालन के लिए मरना जरूरी होगा । अहिंसा की भी यही बात है । देह तो अभिमान का मूल है । देह के बारे में जिसका मोह बना हुआ है, वह अभिमान से मुक्त हो ही नहीं सकता । जब तक मेरे मन में यह विचार है कि देह मेरी है, तब तक मैं सर्वथा हिंसामुक्त हो ही नहीं सकता हूँ । जिसकी अभिलाषा ईश्वर को देखने की है, उसे देह के पार जाना पड़ेगा, अपनी देह का तिरस्कार करना पड़ेगा, मौत से भेंट करनी पड़ेगी ।’

जब ये दो गुण मिलें, तभी हम तर सकेंगे । ब्रह्मचर्यादि का पालन कर सकेंगे ; अगर उनका पालन करना चाहे तो सत्य के बिना कैसे चलेगा ? सत्य का मुकाम तो सुवर्णमय पात्र से ढका हुआ है । सत्य बोलने का सत्य का आचरण करने का डर क्यों हो । असत्य

रूपी चमकीला ढक्कन जब तक दूर न करें तब तक सत्य की झांकी क्यों कर होगी ? कोई कसूर करे तो उस पर क्रोध करने के बदले प्रेम करना क्या हमें रुचता है, हम संसार को असार कहकर गाते हैं सही, मगर क्या असार समझते भी हैं ?”

मनोबल का स्रोत

महात्मा गांधी के मनोबल का स्रोत है आत्मा की अनुभूति । उन्होंने उसके आधार पर ही परिवर्तन की संभावनाओं को स्वीकार किया । हिटलर के बारे में उन्होंने लिखा—

निःशस्त्र पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों का अपने अन्दर कोई कटुता रखे बिना अहिंसात्मक प्रतिरोध करना उनके लिए एक अद्भूत अनुभव होगा । यह तो कौन कह सकता है कि ऊंची और श्रेष्ठ-शक्तियों का आदर करना उनके स्वभाव के ही विपरीत है । उनके भीतर भी तो वही आत्मा है, जो मेरे भीतर है ।

“डॉ० बेनेसको मैं यही अस्त्र पेश करता हूँ, जो कि दरअसल कमजोरों का नहीं बल्कि बहादुरों का हथियार है, क्योंकि मन में किसी के प्रति कटुता न रखकर, पूरी तरह यह विश्वास रखते हुए कि आत्मा के सिवा किसी का अस्तित्व नहीं रहता, दुनियां की किसी ताकत के सामने—पिर वह कितनी ही बड़ी क्यों न हो—घुटने टेकने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर देने से बढ़कर कोई वीरता नहीं है ।”

संदर्भ अहिंसा का

महात्मा गांधी के आध्यात्मिक विचारों पर गीता का बहुत प्रभाव रहा है किंतु इससे पूर्व श्रीमद् राजचन्द्र के विचारों का निकटतम साहचर्य रहा है । यह उनके अहिंसा के सूक्ष्म निरूपण से स्पष्ट होता है । विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था, विकेन्द्रित सत्ता, निःशस्त्रीकरण—इन सिद्धान्तों को जैन श्रावक के लिए अल्प परिग्रह, स्वतंत्रता, अनर्थ हिंसा के संदर्भ में देखा जा सकता है । जैन आचार मीमांसा में हिंसा के दो विभाग मिलते हैं—अर्थ हिंसा और अनर्थ हिंसा । उत्तरवर्ती जैन आचार्यों ने इन दो हाब्दों के स्थान पर अनिवार्य हिंसा और वार्य हिंसा का प्रयोग किया है । महात्मा गांधी ने भी अहिंसा की मीमांसा में अनिवार्य हिंसा का प्रयोग कर हिंसा और अहिंसा के बीच बहुत स्पष्ट भेदरेखा खींची है । अनेक विचारक आवश्यक हिंसा को अहिंसा कहकर मौन हो जाते हैं । महात्मा गांधी ने अनिवार्य हिंसा को कभी अहिंसा नहीं माना । इस विषय में उनके कुछ विचार मननीय हैं—

‘बंदर को मार भगाने में मैं शुद्ध हिंसा ही देखता हूँ । यह भी स्पष्ट है—उन्हें अगर मारना पड़े तो अधिक हिंसा होगी । यह हिंसा तीनों काल में हिंसा ही गिनी जाएगी ।’
एक बार महात्मा गांधी से प्रश्न किया गया—कोई मनुष्य या मनुष्यों का समुदाय

१. दैनिक जन सत्ता ७/१२/९२

२. हरिजन सेवक १५ अक्टूबर १९३८ पृ. २७६-२७७

लोगों के बड़े भाग को कष्ट पहुंचा रहा हो, दूसरी तरह से उसका निवारण न होता हो तो तब उनका नाश करें तो यह अनिवार्य समझकर अहिंसा में खायेगा या नहीं ?

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया—अहिंसा की जो मैंने व्याख्या की है, उसके ऊपर के तरीके पर मनुष्य वध का समावेश ही नहीं हो सकता । किसान तो अनिवार्य नाश करता है, उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है । यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाए, किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है ।’

महात्मा गांधी अध्यात्म, अहिंसा के क्षेत्र में दुर्लभ व्यक्तित्व हैं । इस भौतिकवादी वातावरण में उनको खोजना सत्य को खोजना है । किन्तु अध्यात्म निष्ठा से शून्य गांधी के नाम से चल रहे उद्योगों, संस्थानों, प्रतिष्ठानों और रचनात्मक प्रवृत्तियों में उनकी आत्मा को नहीं खोजा जा सकता । इस कटु सत्य को सामने रखकर ही गांधी के बारे में कुछ सोचा जाए । वर्तमान के लिए यह अधिक उपयोगी होगा ।

अध्यात्म का व्यावहारिक मूल्य

मनुष्य शरीर, मन और इन्द्रियों की दुनिया में जी रहा है। शरीर से सारी प्रवृत्तियों का संचालन होता है। इन्द्रियों से बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क बनता है और मन के द्वारा चिन्तन तथा कल्पना की जाती है। वाणी हमें दूसरों से मिलाने का कार्य करती है। जीवन की परिभाषा मनुष्य ने दृश्य संसार से ही निकाली है। शरीर, मन, इन्द्रियां और वाणी— इन चारों को ही जीवन मानकर व्यक्ति उलझा हुआ है। किन्तु क्या इस दृश्य जगत् के परे भी कुछ है? यदि है तो क्या हम उसे जान सकते हैं? यदि नहीं जान सकते तो क्या अदृश्य के अस्तित्व को नकार सकते हैं?

गति है, प्रगति नहीं

ये प्रश्न अध्यात्म के हैं। यह बौद्धिक स्तर की बात नहीं है जहां तर्क-वितर्क चल सके। जब हम गहरे अन्तर् अनुभव में चले जाते हैं तब वादों और तर्कों से परे हटकर अनुभूति का तत्त्व पाते हैं। आचार्य हरिभद्र सूरि ने लिखा है—

‘वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चितांस्तथा।

तत्त्वांतं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ।

मुक्त्वाऽतो वादसंघट्ट-मध्यात्म मनुचिन्त्यताम् ॥’

वाद और प्रतिवाद परस्पर में इस प्रकार चल रहे हैं कि जिनका कोई पार नहीं। भारतीय दर्शनों ने बहुत वादविवाद किया परन्तु तैली के बैल की तरह जहां से चले थे वहीं वापस पहुंच गए। तर्क और वादविवाद में गति तो है, किन्तु प्रगति नहीं होती। पिछले हजार-पन्द्रह सौ वर्षों में अधिकांशतः ऐसा ही हुआ है। केवल तर्क और शब्दों की पकड़ रही है, अनुभूति नहीं की गई और इसीलिए प्रगति नहीं हुई। प्रगति के लिए आन्तरिक विकास की जरूरत है और आन्तरिक विकास के लिए अध्यात्म और योग दो प्रिय विषय हैं।

अशांति का कारण

योग का अर्थ है—मिलना अथवा समाहृत हो जाना। हमारे मन में असंख्य प्रश्न

उभरते रहते हैं किन्तु उनका समाधान तब तक नहीं होता जब तक हमारा मन बाहर रहता है। मन की एकाग्रता होते ही, उसकी स्थिरता आते ही सारे प्रश्न समाहृत हो जाते हैं—यही योग है। आज का युग बौद्धिक युग है, जहां व्यक्ति पर असंख्य दबाव और तनाव आते रहते हैं। बाह्य परिस्थितियों, जीवन के संघर्षों एवं प्रवृत्तियों का मानव मस्तिष्क पर अत्याधिक दबाव रहता है, जिससे उसे अशांति मिलती है। इस अशांति से बचने का उपाय है योग और अध्यात्म। अपने अन्तर में चले जाना, स्वयं के सागर की गहराई में डूब जाना ही योग है। अपने आप से बाहर जाना ही अशान्ति का कारण है। भौतिक प्रगति करने वाले जितने भी देश हैं, वहां की स्थिति देखने से पता लगता है कि केवल बाह्य से उन्हें कितनी अशान्ति मिल रही है। बिटल्स और हिप्पी जैसी पौध इसलिये पनप रही है कि वहां चैन और शांति का अभाव है। अशांति का एक कारण अभाव होता है तो दूसरा कारण अतिभाव भी है। अभाव यदि इष्ट नहीं है तो अतिभाव भी लाभदायक नहीं। अभाव सुख नहीं देता है तो अतिभाव भी पागलपन और उन्माद देनेवाला होता है।

अध्यात्म का व्यावहारिक लाभ

अध्यात्म की भूमिका गहरी और ऊंची है किन्तु एक बार उसे छोड़कर अध्यात्म का व्यावहारिक लाभ देखें तो वह भी बहुत है। व्यक्तित्व का मूल्यांकन आध्यात्मिक भावना से ही हो सकता है। अध्यात्म-दृष्टि के बिना आदमी को आदमी की दृष्टि से नहीं आंककर उपयोगिता की दृष्टि से आंका जाने लगता है जैसा आज अंकन हो रहा है। वस्तु का मूल्यांकन सही और शुद्ध दृष्टि से न होकर उपयोगिता की दृष्टि से होना अध्यात्म का अभाव है। किसी वस्तु का मूल्य कितना है वह उसकी उपयोगिता पर निर्भर होने लगता है। आजकल वृद्धजनों की उपयोगिता में संदेह करते हुए, कहीं-कहीं उन्हें गोली मारने का भी स्वर उभरता है और अनेक घरों में तो आज वृद्धों को किसी कोने में डालकर घंटी बजाने पर रोटी-पानी देने मात्र के योग्य समझा जाने लगा है, क्योंकि उनकी उपयोगिता नहीं है। ऐसी स्थिति अध्यात्म के अभाव की परिचायक है। हमारी दृष्टि जब तक उपयोगिता की रहेगी हम वस्तु के अस्तित्व का मूल्य नहीं आंक सकेंगे।

धुंधलाती दृष्टि

प्रत्येक वस्तु का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और उस अस्तित्व को जानकर मूल्यांकन करना अध्यात्म-दृष्टि का कार्य है। अष्टावक्र ऋषिकुमारों की सभा में पहुंचे तो सारे ऋषिपुत्र उनके आठ स्थानों से टेढ़े-मेढ़े शरीर को देखकर हँस पड़े। अष्टावक्र ने अपने सम्बोधन में कहा— मैं चर्मकारों की सभा में उपस्थित हुआ हूँ जहां मेरे अध्यात्म को नहीं

केवल बाह्य चमड़े को देखा जा रहा है। ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि ऋषिपुत्रों के पास अध्यात्म-दृष्टि का अभाव था। उनकी वह दृष्टि धूमिल थी। भारत की उस आध्यात्मिक-दृष्टि का हास हुआ है और वह दृष्टि धुंधली हो रही है। आचार्य तुलसी वही अध्यात्म-दृष्टि देना चाहते हैं। वे आध्यात्मिक अनुभूति देते हैं। जो उसे प्राप्त कर लेता है, उसे शान्ति का रहस्य प्राप्त हो जाता है।

धर्म की समस्या : धार्मिक का खंडित व्यक्तित्व

दुनिया में बहुत सारे वाद और विवाद चल रहे हैं। सत्य को पाने के लिए सब वाद-विवाद प्रयत्नशील हैं। परन्तु क्या किसी ने सत्य को प्राप्त किया? कोल्हू का बैल कोल्हू के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। घंटों तक गतिशील रहने पर भी वह आगे नहीं बढ़ पाता। ठीक यही दशा वादों और विवादों की है। वादों और विवादों के द्वारा किसी ने भी सत्य नहीं पाया। तब प्रश्न आया क्या करना चाहिए? सत्य के लिए वादों के अखाड़े को छोड़ दो, वादों के संघर्ष को छोड़ दो और अध्यात्म का अनुचितन करो।

अध्यात्म

अध्यात्म कोई वाद नहीं है। अध्यात्म सबसे अलग रहने वाली वस्तु नहीं है। अध्यात्म किसी पाताल-लोक में बसने वाली वस्तु भी नहीं है। किसी भी वस्तु की गहराई में चले जाइए। वहां सहज ही अध्यात्म का स्पर्श हो जाएगा। समुद्र को सामने से देखते हैं तो पानी दिखाई देता है। आस-पास से कुछ छोटे-मोटे केकड़े आदि जानवर दिखाई देते हैं। मछलियां भी तैरती हुई दिखाई देंगी। शंख, सीप आदि भी मिल जाते हैं। क्या समुद्र यही है? यह तो समुद्र का दीखने वाला बाहरी रूप है। समुद्र की गहराई में जाने पर अनेक मूल्यवान चीजें उपलब्ध होती हैं। बाहरी रूप को देखने वाला व्यक्ति समुद्र में छिपे रत्नों से परिचित नहीं हो सकता। सामान्यतः लोगों की दृष्टि वस्तु के बाहरी आकार को ही देखती है। कि धार्मिक लोगों के जीवन में जो परिवर्तन नहीं आता, उसका मूल कारण यही है कि वे धर्म के बाहरी तल का स्पर्श करते हैं, उसकी गहराई तक नहीं जा पाते। आज वैज्ञानिकों ने चन्द्रलोक में मनुष्य को उतार दिया। कैसे उतारा? इसलिए कि वे अध्यात्म तक पहुंचे, उस चीज़ की गहराई तक पहुंचे। अध्यात्म का अर्थ होता है भीतर में होने वाला— इस पंडाल के भीतर होने वाला, इस भूमि के भीतर होने वाला, हमारे शरीर के भीतर में होने वाला। किसी भी वस्तु के भीतर में होने वाला जो है, वह अध्यात्म है।

मान्यता और व्यवहार

धर्म की गहराई में कौन जाता है? व्यक्ति मानता कुछ है और करता कुछ है। एक ओर मान्यता है और एक ओर सारा व्यवहार है। व्यक्ति की कुछ मौलिक मनोवृत्तियां

होती हैं, जो उसके शरीर के साथ, मन और भावनाओं के साथ जुड़ी हुई हैं। वे मौलिक वृत्तियाँ एक ओर हैं और दूसरी ओर उसकी मानी हुई या जानी हुई बातें हैं। एक आदमी दूसरे आदमी के समान हैं, यह हम मानते हैं किन्तु क्या इसकी अनुभूति हमें है? यदि इस बात की अनुभूति हो जाए कि हर आदमी एक-दूसरे के समान है, आत्मतुल्य है, 'प्रत्येक आत्मा दूसरी आत्मा के समान है, तो फिर कोई आदमी किसी को नहीं सता सकता, किसी का शोषण नहीं कर सकता, किसी को हीन और दीन नहीं मान सकता, किसी को नीच और उच्च नहीं मान सकता। ऐसी आध्यात्मिक अनुभूति है ही कहां? केवल रटी-रटाई बातें दुहराई जाती हैं।

शास्त्रों की दुहाई

आप धार्मिक लोगों को देखिए और उनसे पूछिए कि एक आदमी दूसरे आदमी के समान है, इसका प्रमाण क्या है? कोई कहेगा, गीता में ऐसा लिखा है। जैन कहेगा, उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है। बौद्ध कहेगा, धम्मपद में लिखा है। कोई बाइबिल की दुहाई देगा और कोई कुरान की दुहाई देगा। न जाने किस-किस ग्रन्थ की दुहाई आयेगी। सबका एक ही उत्तर होगा— शास्त्रों में लिखा है, इसलिए मान रहे हैं, हमारा कोई ऐसा अनुभव नहीं है। जब तक हम दूसरे का भार सिर पर ढोएंगे, केवल शब्दों का भार ढोते रहेंगे तो यह द्वन्द्व कभी मिटने वाला नहीं है। यह द्वन्द्व रहेगा कि हम मानते कुछ चले जाएंगे, कहते कुछ चले जाएंगे और करते कुछ चले जाएंगे। हमारी क्रिया में और हमारे सिद्धान्त में अद्वैत तभी आएगा जब वह सत्य हमारे जीवन में अनुभूत हो जाए।

पण्डितों का संसार

धर्म वास्तव में प्रयोग की वस्तु थी, अभ्यास की वस्तु थी। आज धर्म का प्रयोग कहां है? धर्म तो इतना रूढ़ हो गया और शास्त्रों की वासना में इतना जकड़ दिया गया कि सचमुच धर्म के लिए जीवन में कोई अवकाश नहीं है। शंकराचार्य ने ठीक ही लिखा है— बहुत सारी वासनाएं होती हैं किन्तु सबसे भयंकर वासना है शास्त्रों की। एक बहुत बड़े जैनाचार्य पूज्यपाद हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि जो संसारी लोग होते हैं उनमें पुत्र की वासना, पत्नी की वासना, परिवार की वासना होती है, धन की वासना होती है। जो पंडित बन जाते हैं उनमें शास्त्रों की वासना हो जाती है। उनका घर संसार होता है, पंडितों का शास्त्र संसार होता है। दोनों अपने-अपने संसार की सृष्टि कर लेते हैं। मुक्त होने वाला कोई नहीं है। ऐसी स्थिति में हम कैसे आशा करें कि मनुष्य की समझ में धर्म आ जाए?

अपेक्षित है प्रयोग

आवश्यकता है अनुभूति की और प्रयोग की। जो प्रयोग की प्रक्रिया चले, उससे

हम यह जानने का प्रयत्न करें कि यह क्या है ? एक धार्मिक व्यक्ति एक सिद्धान्त को दस-बाहर वर्ष की उम्र से दोहराना शुरू करता है और दोहराते-दोहराते मर जाता है पर वह अनुभव नहीं करता। शास्त्रों के प्रति हम न्याय तब कर सकते हैं जब शास्त्र हमारे लिए एक पूर्व-मान्यता के रूप में आएँ। जैसे एक वैज्ञानिक पूर्व-मान्यता को लेता है। न्यूटन ने देखा कि सेव गिर रहा है; उसके लिए सेव का गिरना एक शास्त्र बन गया। किन्तु क्या सेव गिर रहा है इतने मात्र से उसे ज्ञान हो गया ? उसने प्रयोग किया, उसका परीक्षण किया और परीक्षण करके सिद्धान्त की स्थापना की कि पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण है। उस सेव का गिरना उसके लिए शास्त्र था, पूर्व मान्यता थी। वैसे ही अहिंसा अच्छी है, ब्रह्मचर्य अच्छा है, अपरिग्रह अच्छा है, यह हमारी पूर्व मान्यता है। हम शास्त्रों में पढ़ लेते हैं और उन्हें स्वीकार कर लेते हैं।

क्या अपरिग्रह को अच्छा माननेवाले परिग्रह से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं। शायद कभी नहीं करते। उनकी लालसा तो परिग्रह की ओर रहती है कि आज अगर दस लाख पास में है तो अगले वर्ष बीस लाख हो जाएँ। वह भी दूसरों के लिए नहीं, केवल अपने स्वार्थ के लिए और अपने भोग के लिए। उनकी अभिमुखता परिग्रह की ओर है और वे अपरिग्रह के सिद्धान्त की रटन लगाते रहते हैं। अहिंसा की बातें करने वाले बहुत लोग मिलते हैं किन्तु क्या उन्होंने अहिंसा को ठीक समझा है ? अगर आज कोई यह प्रमाणित कर दे कि गीता में, उत्तराध्ययन में यह लिखा है कि हिंसा करना भी धर्म है; संभवतः वे मान लेंगे। उनके लिए अहिंसा धर्म है या हिंसा करना भी धर्म है; इसमें कोई फर्क नहीं है यदि कोई शास्त्रों से प्रमाणित कर देता है तो वह बात उन्हें मान्य है। अस्पृश्यता सैकड़ों वर्षों से, हज़ारों वर्षों से चली आ रही थी किन्तु इन पचास वर्षों से बहुत वाद-विवाद से गुजरी। क्यों गुजरी ? इसलिए कि बहुत लोग यह जानते थे— अछूतता, अस्पृश्यता तो शास्त्रों के द्वारा सम्मत चीजें हैं।

गरीबी क्यों पल रही है ?

हिन्दूस्तान में गरीबी क्यों पल रही है ? बहुत सारे लोगों के दिमाग में यह घुसा हुआ है, जो गरीब हैं उनके दिमाग में भी और जो उच्चवर्ग के हैं उनके दिमाग में भी— धनवान अपने भाग्य का फल भोगता है, अपने कर्मों का फल भोगता है। ईश्वर की सृष्टि ही ऐसी है। भला उसे कौन अन्यथा कर सकता है ! यदि यह मिथ्या धारणा न होती तो गरीबी को मिटाने में और अधिक त्वरता आती।

आज भी इस भाग्यवादी और कर्मवादी धारणा के द्वारा पुरुषार्थ की आग पर राख-सी आयी हुई है। वह जलती चली जा रही है। देखते भी हैं और सुनते भी हैं; बहुत साधारण लोगों को ऐसा कहते हुए— “क्या करें ? हमारे भाग्य में ऐसा ही लिखा था, दूसरा कोई क्या करे ?” स्वयं की कोई प्रेरणा नहीं है। उसके पीछे एक मान्यता बोल

रही है। दूसरे में शास्त्रीय वाक्यों का आवरण है। व्यक्ति को जहां धर्म की गहराई तक, अध्यात्म तक पहुंचना चाहिए था नहीं पहुंच रहा है और इसीलिए परिवर्तन नहीं आ रहा है। यदि आध्यात्मिकता आ जाए तो शायद ऐसा नहीं होगा।

विनोबा बहुत बार कहते— अब धर्म की जरूरत नहीं है। एक विज्ञान रहेगा और एक अध्यात्म रहेगा। दो ही चीजें रहनी चाहिए। इसमें बहुत सचाई है, क्योंकि धर्म क्रियाकांडों का जमघट-सा हो गया है। अन्ना साहब आचार्यश्री के पास आये। उन्होंने कुछेक प्रश्न रखे। उन्होंने कहा— धर्म के विषय में आज की धारणा ऐसी बन गई है कि उसमें परिवर्तन लाने की बात नहीं रह गई है। आचार्यश्री ने कहा— “मैं इसे स्वीकार करता हूं, क्योंकि धर्म इतना रूढ़ हो गया है कि अब उसमें अवकाश नहीं रहा है कि कुछ किया जा सके। धर्म या सत्य की शोध के लिए परन्तु असत्य का पोषण करने में आज की धर्मवादी धारणा का बहुत बड़ा हाथ है अन्यथा ‘ये राजनैतिक’ और ‘ये समाजनैतिक’ यह अलगाव नहीं होता। आज एक राजनैतिक व्यक्ति अपने को धार्मिक क्यों नहीं मानता ? और एक धार्मिक व्यक्ति राजनीति और समाजनीति से सर्वथा अछूत कैसे रह सकता है ? इनकी सम्बद्धता है। मनुष्य के एक ही व्यक्तित्व में धर्म, अर्थ, समाज आदि सारी चीजें एकरस होकर गुजरती हैं।

जीवन का द्वैध

उनका प्रश्न था— ‘आज आदमी दो घंटा उपासना कर लेता है और फिर वह छुट्टी पा लेता है। वह समझता है अब तो सारा दिन काम करने के लिए है।’

मैंने कहा— ‘गुरुदेव ने बहुत धार्मिक शब्दों में इस पर लिखा है। उसका आशय है कि एक ही आदमी एक घंटा तो भक्त प्रह्लाद बन जाता है और दूसरे घंटे में हिरण्यकश्यप बन जाता है। देखने वाला समझ नहीं पाता कि जब उसे पूजा के स्थान में, मंदिर में, धर्मस्थान में साधुओं के पास देखता है तो कल्पना करता है कि शायद प्रह्लाद भी ऐसा भक्त हुआ था या नहीं। उसी व्यक्ति को जब आफिस में, कार्यालय में, दूकान में देखता है तो कल्पना करता है कि शायद हिरण्यकश्यप भी इतना क्रूर हुआ था या नहीं। एक ही व्यक्ति में एक ही दिन में जो इतना द्वैध मिलता है उसके जीवन में धर्म कहां है ? गुरुदेव इस विषय में कहा करते हैं—एक होता है श्वास और एक होता है भोजन। हम समूचे दिन भोजन नहीं करते। दिन में दो बार खाते होंगे। कोई चार बार भी खा लेता होगा। चाय-कॉफी पीने वाले पांच-सात बार खा-पी लेते होंगे। आखिर यह तो नहीं है कि निरन्तर खाते ही रहते हैं। यदि निरन्तर खाते ही रहें तो बीमार पड़ जायेंगे। किन्तु क्या सांस लिए बिना रह सते हैं ? कहा जाए— पांच मिनट साँस मत लो तो शायद नहीं रह सकेंगे। दो मिनट रहना भी बड़ा कठिन है।

हमारा धर्म श्वास की तरह हो। अध्यात्म हमारा श्वास है और उपासना, पूजा-

पद्धतियां, क्रियाकांड— ये हमारे भोजन हैं। एक आदमी पूजा में, जप में, क्रियाकांड में आधा घंटा लगा सकता है, एक घंटा लगा सकता है। इतना निकम्मा तो नहीं कि सारा दिन ही पूजा में लगाये। यदि सारा दिन लगा दे तो वह आर्थिक हानि से दब जायेगा। सामाजिक दृष्टि से पिछड़ जायेगा। ज्ञान-विज्ञान और भौतिक क्षेत्र में पिछड़ जायेगा। ऐसा हिन्दुस्तानी लोगों में हुआ है कि एक ओर तो बाहर से शत्रुओं का आक्रमण होता रहा और दूसरी ओर जो उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति थे, स्वयं पूजा-उपासना में बैठे रहे। यह भला कैसी पद्धति है, समझ में नहीं आती।

जीवन का मूल धर्म

धर्म शाश्वत है। वह हमारे श्वास की तरह है, जो निरन्तर होना चाहिए। दो घंटा तो मैं प्रामाणिक हूँ शेष घंटा प्रामाणिक नहीं। मंदिर में जाता साधुओं के स्थान पर आता हूँ तो प्रामाणिक हूँ और जब मैं दुकान पर जाता हूँ तब धार्मिक भी नहीं हूँ और प्रामाणिक भी नहीं हूँ। यह धर्म की सबसे बड़ी हत्या और सबसे बड़ी मखौल है। ऐसा क्यों हुआ? इसीलिए कि हमने उपासना को ही धर्म मान लिया। आचरण को धर्म नहीं माना और शाश्वत धर्म को नहीं पहचाना। उसी का ही यह परिणाम है; अन्यथा होना यह चाहिए कि कोई व्यक्ति उपासना कर सके या न कर सके किन्तु कम-से-कम श्वास तो लेता रहे, जिससे वह जीवित रह सके। हमारे जीने की यह प्रक्रिया थी। हमारी जो श्वास लेने की प्रक्रिया। प्राण भरने की प्रक्रिया थी, उसे तो हमने भुला दिया; और केवल ऊपरी भोजन पर सारा निष्कर्ष निकाल दिया। यही कारण है कि आज धर्म के द्वारा भी जो होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। यदि ऐसा हो जाए हमारे जीवन का मूल धर्म बने और नियम-उपासना हमारे जीवन का गौण धर्म बने तो जीवन की सही प्रतिष्ठा हो सकती है।

अशान्ति की समस्या

सुख की खोज सुलभ नहीं तो शायद उसका प्रतिपादन भी सुलभ नहीं। मनुष्य की सारी साधना सुख और शान्ति के लिए होती है। यह मनुष्य का नैसर्गिक स्वभाव है। प्रश्न यह होता है कि मनुष्य सुख और शान्ति की साधना करता है तो उसे अशान्ति क्यों मिलती है ? बिना चाहे ही अशान्ति क्यों आ जाती है ?

अशान्ति दो प्रकार की होती है— कल्पनाप्रसूत और मान्यताप्रसूत। इसी तरह सुख के कई प्रकार हैं— आरोग्य, दीर्घायु, सम्पन्नता आदि। प्रत्येक मनुष्य स्वस्थ रहना चाहता है, प्रत्येक मनुष्य दीर्घायु होना चाहता है और प्रत्येक मनुष्य सम्पन्न होना चाहता है। मनुष्य ही क्यों, प्रत्येक राष्ट्र के अधिनायक भी यही चाहते हैं कि हमारा राष्ट्र सब प्रकार से समृद्धिशाली, सुखी बने। आजकल जिस राष्ट्र की जनता सुखी नहीं होती, उसको अच्छा नहीं समाना जाता। हमारे प्रधानमंत्री ने अपने एक भाषण में कहा था— स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् हमारे देशवासियों की आयु में वृद्धि हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के कर्णधार यही चाहते हैं कि हमारे देश के वासी अधिक-से-अधिक सुखमय जीवन व्यतीत करें।

शान्ति और सुख

मनुष्य में जब माया, मोह, लोभ आदि का आवेग आ जाता है तब उसे अशान्ति होती है। शान्ति नहीं तो सुख भी नहीं। शान्ति के बिना मनुष्य सुख की अनुभूति भी नहीं कर सकता। धन सुख का साधन माना जाता है परन्तु यदि एक धनी-मनुष्य रुग्ण है तो उसे शान्ति की अनुभूति नहीं होती। इसी प्रकार यदि एक मनुष्य अच्छा-अच्छा भोजन करने में सुख का अनुभव करता है और वही यदि बुखार-पीड़ित होने पर दिया जाए तो उसे वह अच्छा नहीं लगेगा। एक मनुष्य की संगीत में रुचि है परन्तु यदि उसके मन में अशान्ति है तो उसे सुख की अनुभूति नहीं होगी। शान्ति और सुख का साहचर्य है, उनमें कार्य-कारण का भाव नहीं है हमारा साध्य सुख है शान्ति नहीं। शान्ति के अभाव में सुख नहीं मिलता, इसीलिए शान्ति को महत्त्व अधिक दिया जाता है। शान्ति का अर्थ है शमन। रोग को शान्त करने के लिए चिकित्सा की जाती है। लोग कहते हैं रोग शान्त हो गया।

परन्तु शान्त क्या हुआ ? जो उभार आया था, वह मिट गया । फोड़ा हुआ, उपचार किया, मिट गया । शमन के लिए यही बात है । सुख के दो रूप हैं । वह भौतिक भी है और आध्यात्मिक भी । मकान, वस्त्र, रोटी— जिनसे सुख की अनुभूति होती हैं वे भौतिक हैं । आज इसी को प्रधान सुख मान लिया गया है । परन्तु हमारे महर्षियों ने, आचार्यों ने इसे व्याधि माना है । हमें भूख लगी है, समझ लीजिए— व्याधि उत्पन्न हो गई है । भोजन किया, व्याधि मिट गई । बुखार आया, दवा ली और बुखार दूर हुआ । इसमें सुख की कैसी अनुभूति हुई ? हां, उपकरणों द्वारा सुख की अनुभूति अवश्य होती है ।

आज मनुष्य का मानसिक तनाव इतना बढ़ गया है कि शायद इतना पहले कभी नहीं था । अमेरिका आज की दुनिया का सबसे धनी देश है । वहां पर खाने, पीने, पहनने की कोई कमी नहीं है । घी-दूध की नदियां बहती हैं । गेहूं जानवरों को खिलाया जाता है । इसके उपरान्त भी वहां मानसिक तनाव के रोगियों की संख्या दुनिया में सबसे अधिक है । यदि बाह्य उपकरण ही सुख के साधन होते तो शायद ऐसा नहीं होता । मनुष्य के पास आज समय का बहुत अभाव हो गया है । वैसे तो भाव सभी चीजों का बढ़ गया है परन्तु समय का भाव सबसे अधिक बढ़ गया है । गर्मी-प्रधान देश होने के कारण भारत के लोग अधिक आलसी भी होते हैं, फिर भी समय की कमी उन्हें सदैव सताती है । यह भी एक मानसिक असंतुलन है । अमेरिका में मानसिक तनाव बाह्य उपकरण की प्रचुरता के कारण ही अधिक फैला है । फ्रांस में भी मानसिक तनाव के रोगियों की संख्या इतनी बढ़ी है कि वहां के लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि यदि आध्यात्मिकता का जीवन में प्रवेश नहीं हुआ तो बिना किसी एटम बम या हाइड्रोजन बम के ही हम सब समाप्त हो जाएंगे ।

सीमा है पागलपन की

आज का पढ़ा लिखा आदमी अधिक असंतुलित हो गया है । जिस प्रकार शरीरिक संतुलन बिगड़ने पर मनुष्य के शरीर में गड़बड़ रहती है, उसी प्रकार मानसिक संतुलन बिगड़ने पर लोग घबराए-से रहते हैं । वैसे तो प्रत्येक मनुष्य में कुछ न कुछ पागलपन अवश्य होता ही है, परन्तु बहुत पढ़े-लिखे लोग अधिक पागल देखे जाते हैं । बड़े-बड़े दार्शनिकों को कभी-कभी यह भी याद नहीं आता है कि उन्होंने भोजन किया है या नहीं ? इसके बारे में वे अपने नौकरों से पूछते हैं । वह पागलपन विकास के लिए बहुत ही आवश्यक होता है परन्तु उसकी भी एक सीमा है । यदि मेवाड़ के पहाड़ों की सीमा न होती तो क्या उदयपुर वहां होता ? जयसमन्द की सीमा नहीं होती तो क्या गुजरात होता ? वे दोनों ससीम हैं; इसीलिए उदयपुर भी है, गुजरात भी है ।

सभ्यता या बर्बादी

आज अर्थ को इतनी अधिक मान्यता दे दी गई है कि उसके आगे कुछ सोचने को शेष ही नहीं रह जाता है। ईश्वर, आकाश एवं मनुष्य की तृष्णा, ये तीन चीजें असीम मानी गई हैं। आज के लोगों ने ईश्वर को उखाड़ फेंका, आकाश को असीम नहीं माना परन्तु अपनी तृष्णा को असीम ही रहने दिया। तृष्णा का विस्तार अधिक हुआ है, कम नहीं। आज के मनुष्य को जन्म से जो विचार, जो धारणाएं प्राप्त होती हैं, उनके साथ आत्मानुशासन जैसी बात जुड़ी ही नहीं है। धर्म की तो लोग मखौल उड़ाते हैं किन्तु आदिवासी जातियों में आज भी नैतिकता अधिक मिल सकती है। लोक-कला मण्डल के संस्थापक श्री सांभरजी ने बताया— भारत की प्राचीन संस्कृति का दर्शन आदिवासियों में ही हो सकता है। आधुनिक सभ्यता के लोग उन्हें सभ्य बनाने जाते हैं परन्तु मेरे विचार से वे भारतीय संस्कृति का अन्त करना चाहते हैं। दक्षिणी अफ्रीका के एक विद्वान् ने लिखा— हम यहां के आदिवासियों को सभ्य नहीं बना रहे हैं बल्कि उन्हें बर्बाद कर रहे हैं। आज की नयी सभ्यता के लोग प्राचीन चीजों को अंधविश्वास कहकर मखौल उड़ाते हैं परन्तु सारी चीजे अंध विश्वास ही नहीं हैं। ग्रहों के साथ भारतीय ज्योतिष में हीरे-सोने का सम्बन्ध बताया गया है और इसकी पुष्टि वैज्ञानिक भी आज कर रहे हैं।

आज का बुद्धिवाद भी अशान्ति का एक कारण बन रहा है। यदि आप जीवन में शान्ति चाहते हैं, सुख की कल्पना साकार करना चाहते हैं तो अपने मन पर नियंत्रण करिए। सुख तीन प्रकार होता है— शारीरिक सुख, इन्द्रिय सुख और मानसिक सुख। शारीरिक सुख आपको प्रिय है। इसे प्राप्त करने के लिए आप काफी सचेष्ट भी रहते हैं। इन्द्रियों के सुख के लिए भी आप बहुत ही प्रयत्नशील रहते हैं परन्तु मानसिक सुख की ओर आपका ध्यान नहीं जाता। आप मान लेते हैं कि यदि शारीरिक सुख एवं इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति हुई तो मानसिक सुख स्वतः प्राप्त हो जाएगा। यह मूल में ही भूल है। आप यदि मन को मालिक मान कर चलेंगे तो आपको सुख की अनुभूति कदापि नहीं हो सकती। हां, सेवक मानने से सुख अवश्य प्राप्त होगा। मन चाहता है कि सुख मिले परन्तु यदि उस पर अधिकार नहीं किया गया तो सुख नहीं मिल सकता। यदि आप मन को अपने नियंत्रण में रखेंगे तो सुख का समुद्र लहराएगा, शान्ति मिलेगी। मन को सेवक मानने पर इन्द्रियां स्वयं सेवक बन जाएंगी, दुःख नाम की काई चीज ही नहीं रह जाएगी। यह स्थिति तभी होगी जब मन को मालिक मानकर नहीं, सेवक मानकर चलेंगे। चन्द्रमा की सैर करने से भी अधिक सुख की अनुभूति इसमें होगी।

मन को सेवक मानें, स्वामी नहीं

भगवान महावीर ने कहा— बारह मास का दीक्षित साधु सारे पौद्गलिक सुखों को

लांघ जाता है। उसे उस सुख की अनुभूति होती है, जो चक्रवर्ती सम्राट् को भी नहीं होती। अपने जीवन को प्रयोगशाला बनाकर यह निर्णय कीजिए कि जिन मान्यताओं को आप स्वीकार किए हुए हैं, वे काल्पनिक हैं या यथार्थ? एक बार मन को सेवक मानकर अवश्य परीक्षा करनी चाहिए। मैं आपको यह परामर्श नहीं दे सकता कि आप शरीर-सुख और इन्द्रिय-सुख की ओर सर्वथा ध्यान न दें किन्तु इतना सा परामर्श अवश्य दूंगा कि आप मन को सेवक मानकर चलें, स्वामी मानकर नहीं।

समस्या है बहिरात्म भाव

मनुष्य जीना चाहता है, उसमें जीने की इच्छा है, जिजीविषा है। यह प्राणी का प्रथम लक्षण है। वह संतति का संवर्धन करना चाहता है। अमर होने की भावना या वंशवृद्धि की भावना प्राणी का दूसरा लक्षण है। उसका तीसरा लक्षण है— आवश्यकताओं की पूर्ति। प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकता की पूर्ति करता है। रोटी, पानी, कपड़ा, मकान आदि-आदि की पूर्ति करता है। ये तीन मूलभूत बातें हैं, जो प्रत्येक प्राणी में मिलती हैं— जेजीविषा, संतति का संवर्धन और आवश्यकता की संपूर्ति।

आत्मा के तीन रूप

मनुष्य अधिक विकासशील प्राणी है। उसने अपनी स्मृति का विकास किया है, कल्पना और चिन्तन का विकास किया है। उसका नाडीतंत्र बहुत विकसित है। अन्य प्राणियों को वैसा योग प्राप्त नहीं है। इसलिए सब प्राणियों से उसने एक कदम आगे बढ़ाया और अपनी काल्पनिक आवश्यकताओं का एक साम्राज्य खड़ा कर लिया। आवश्यकता पूरी हो सकती है पर काल्पनिक आवश्यकताओं के साम्राज्य का कभी अन्त नहीं होता, इतिश्री नहीं होती, वह बढ़ता ही चला जाता है। यही समाज की समस्या है और यही है आदमी का बहिरात्म भाव।

जैनधर्म निर्वाणवादी धर्म है। वह निर्वाण को मानकर चलता है। धर्म की अन्तिम मंजिल है निर्वाण। निर्वाणवादी धर्म में निर्वाण से पहले आत्मा का होना जरूरी है। धर्म का पहला बिन्दु है आत्मा और अन्तिम बिन्दु है निर्वाण। जैनाचार्यों ने आत्मा को देखा, अनुभव किया और जाना— आत्मा एक रूप में नहीं है वह स्वरूपतः एक है, चैतन्यमय है फिर भी विभाजित है। उसे तीन भागों में देखा गया— बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

समस्या काल्पनिकता की

बहिरात्मा वह है, जो आत्मा के बाहर परिक्रमा कर रहा है, भीतर प्रविष्ट नहीं हो रहा है। मकान का दरवाजा बन्द है, व्यक्ति भीतर नहीं जा पा रहा है। उसका कारण है मिथ्या दृष्टिकोण। जब तक दृष्टिकोण मिथ्या रहता है, अपनी आत्मा में अपना प्रवेश नहीं हो सकता। अपने ही घर में अपना प्रवेश निषिद्ध हो जाता है। बड़ा आश्चर्य है—

अपना ही घर और अपने लिए प्रवेश निषिद्ध । इस स्थिति में जब आदमी बाहर भटकता है तो वह हैं कल्पना का साम्राज्य बहुत बढ़ा लेता है । आज के युग की जो सबसे बड़ी सामाजिक समस्या है, वह काल्पनिक दृष्टि । मनुष्य ने आवश्यकता के कुछ ऐसे मानदंड बना लिए, कृत्रिम रेखाएं खींच लीं, विकसित व्यक्ति और विकसित समाज की अपनी अवधारणाएं बना लीं और वह उन्हें पाने की भाग-दौड़ में व्यथित होने लगा ।

सामाजिक समस्या का निदर्शन

२५०० वर्ष की बात है । डरावनी रात थी । भयंकर वर्षा हो रही थी । सम्राट् श्रेणिक महल में बैठा था । सहसा बिजली कौंधी । उस बिजली के प्रकाश में सम्राट् ने देखा— एक आदमी नदी के पास काम कर रहा था, कुछ चुन रहा था । सम्राट् यह देखकर सहम गया । उसने तत्काल अभयकुमार को बुलाकर कहा— हमारे राज्य में इतनी गरीबी है, इतना अभाव है कि ऐसी भयंकर रात में भी व्यक्ति को विवश होकर जंगल में काम करना पड़ता है । जाओ ! तलाश करो और उसे यहां बुलाओ । उस व्यक्ति को लाया गया । वह व्यक्ति मम्मण सेठ के नाम से जाना जाता था । श्रेणिक ने पूछा— भद्रपुरुष ! क्या तुम्हें खाने को रोटी नहीं मिलती ?

‘महाराज ऐसी बात नहीं है ।’

फिर किस व्यथा में इतनी भयंकर रात में भी तुम नदी के किनारे कार्यरत थे । ‘महाराज ! मेरे पास एक ही बैल है, उसकी जोड़ी नहीं है ।’

सम्राट् ने उसे तुरन्त बैल दिलवाने का आदेश प्रदान किया ।

‘महाराज ! क्षमा करें । जो बैल मेरे पास है, उसकी जोड़ी पूरी करना आपके वश की बात नहीं है ।’

क्यों ? ऐसी क्या विशेषता है तुम्हारे बैल में ?

‘महाराज ! कृपया आप पहले उसे देख लें फिर उसकी जोड़ी का बैल दिलाने का आदेश प्रदान करें ।’

कहां है तुम्हारा बैल ?

‘वह मेरे घर में है । उस बैल के अवलोकनार्थ आपको मेरे घर पधारना होगा । उस बैल को यहां लाया नहीं जा सकता ।’

सम्राट् ने दूसरे दिन उसके घर जाने का निर्णय किया । सम्राट् मम्मण सेठ के घर पहुंचा । मम्मण सेठ अच्छे गहने-कपड़े पहने हुए सम्राट् के स्वागत में प्रस्तुत था । सम्राट् को बड़ा आश्चर्य हुआ । सम्राट् ने बैल के बारे में पूछा— ‘कहां है बैल ?’

‘राजन् ! वह बैल भूतल में है ?’

वह सम्राट् को भीहारे में ले गया । सम्राट् बैल को विस्फोटित नेत्रों से देखता ही रह गया । सम्राट् की आंखें खुली रह गईं । वह रत्नजड़ित बैल था । उससे तज किरणें

फूट रही थीं। सम्राट् की आंखें चौंधियां गईं। उसने सोचा— इस एक बैल के निर्माण में जितना अकूत धन लगा है उतना धन मेरे समस्त राजकोष में भी नहीं है।

वह बोला— ‘महाराज ! मैंने यह एक बैल तैयार कर लिया है। ऐसा ही दूसरा बैल और तैयार करना है इसीलिए मैं वहां काम कर रहा था।’

सम्राट् ने कहा— ‘नमस्कार ! तुम्हारी इस आकांक्षा की पूर्ति मैं नहीं कर सकता।

यह एक घटना है, सामाजिक समस्या का एक अनन्य उदाहरण है। आदमी काल्पनिक आवश्यकताओं के लिए क्या-क्या नहीं करता ! उनकी पूर्ति के लिए किन दुःखद स्थितियों में वर्तमान युग का व्यक्ति जी रहा है ! यह हमारे सामने बहुत स्पष्ट है। वर्टेड रसेल ने अपनी पुस्तक में लिखा है— अगर ये काल्पनिक आवश्यकताएं समाप्त हो जाएं तो समाज की सारी समस्याएं समाप्त हो जाएंगी, समस्याओं का समाधान मिल जाएगा। काल्पनिक समस्याओं के आधार पर ही आज का आदमी जी रहा है और उसमें बहिरात्म-भाव काम कर रहा है।

बहिरात्मा का लक्षण

बहिरात्मा का पहला लक्षण है— शरीर और आत्मा को एक मानना। जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण मिथ्या है, वह मानेगा— शरीर ही आत्मा है। आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है। सूत्रकृतांग सूत्र में विस्तार से इसका वर्णन किया गया है। एक पक्ष होता है अधर्म का। उसका मानना है— आत्मा नहीं है इसके समर्थन में उसके अनेक तर्क हैं। वह कहता है— यह तलवार है और यह म्यान है। म्यान में तलवार रहती है; जब चाहो तब तलवार को म्यान से बाहर निकल लो। म्यान अलग हो जाएगी और तलवार अलग हो जाएगी। म्यान और तलवार— दोनों अलग-अलग दिखाई देंगी। अगर कोई हमें यह दिखा दे— यह है आत्मा और यह है शरीर। तब हम मान सकते हैं— आत्मा है वरना हम मानने को तैयार नहीं हैं।

उन्होंने इस तथ्य को अनेक उदाहरणों से पुष्ट किया है। एक उदाहरण है दही और मक्खन का। दही को मथकर घी से अलग किया जा सकता है। तिल को घानी में डालकर तेल और खल को अलग अलग किया जा सकता है वैसे ही अगर कोई यह बता दे— यह रही आत्मा और यह रहा शरीर तो हम मानेंगे— आत्मा है वरना नहीं मानेंगे। यह आत्मा की अस्वीकृति, शरीर को ही आत्मा मानना— बहिरात्मा का पहला लक्षण है।

आसक्ति और क्रूरता

बहिरात्मा का दूसरा लक्षण है— पदार्थ क प्रात गहरा आसक्ति। जब शरीर और आत्मा का एक मान लिया जाता है तब पदार्थ की आसक्ति जन्म लेती है। जिन लोगों में धन की प्रबल लालसा है। समझ लेना चाहिए— वे बहिरात्मा हैं। उनका दृष्टिकोण

मिथ्या है। उन्होंने सत्य को समझा नहीं है, उनका दृष्टिकोण सम्यक् नहीं बना है।

बहिरात्मा का तीसरा लक्षण है— क्रूरता। जो बहिरात्मा होता है, उसमें क्रूरता अधिक पनपती है। उसका आत्मा में विश्वास नहीं होता। जब आत्मा में विश्वास नहीं है तब करुणा कहां से आएगी? अनात्मवाद में क्रूरता ही पनपेगी।

जैन साहित्य में राजा प्रदेशी का नाम विश्रुत है। राजा प्रदेशी का जीवन दो भागों में बंटता हुआ था। एक वह समय था, जब राजा प्रदेशी आत्मा में विश्वास करने लगा। जब तक राजा प्रदेशी का आत्मा में विश्वास नहीं था तब तक उसने अनेक क्रूरतापूर्ण कार्य किए। राजा प्रदेशी ने एक बार केशी स्वामी से कहा— एक दिन सिपाहियों ने चोर को मेरे सामने हाजिर किया। कहा जाता है— आत्मा अलग है और शरीर अलग है। मैंने इसकी सचाई का परीक्षण करने का निर्णय किया। तत्काल हाथ में तलवार ली और चोर के दो टुकड़े कर दिए। कहीं आत्मा नहीं दिखी। मैं उसके टुकड़े-टुकड़े करता चला गया पर कहीं से भी आत्मा नहीं निकली। मैंने सोचा— 'आत्मा होती है' यह कहना झूठी बकवास है। कोई आत्मा नहीं होती, यदि आत्मा होती तो सामने आ जाती। इतनी क्रूरता बहिर्भाव से ही आ सकती है। अन्यथा आदमी ऐसा परीक्षण कभी नहीं कर सकता। आज भी बहुत से जीवों को अत्यन्त क्रूरता से मारा जाता है। इसका कारण है मनुष्य का बहिरात्म-भाव।

अशांति का कारण

बहिरात्मा का चौथा लक्षण है बन्धन की उपेक्षा। जो बहिरात्मा है, वह बन्धन की उपेक्षा करता चला जाएगा। जब फ्रांस के कैदियों को बहुत वर्षों के बाद जेल से मुक्त किया तो बाहर के वातावरण में रहना पसंद नहीं किया। उन्होंने अनुरोध किया— हमें पुनः कारावास में डाल दो। वे कारावास में बहुत आसक्त हो गए। उन्हें वहीं अच्छा लगने लगा। बहिरात्म को बन्धन ही अच्छा लगता है, वह मुक्ति की बात नहीं करता।

बहिरात्मा का पाचवां लक्षण है— मानसिक अशांति। वह मानसिक अशांति का जीवन जीता है। इस सारे संदर्भ में वर्तमान समाज की समस्या का पर्यवेक्षण करें, सिंहावलोकन करें। लोग कहते हैं— मानसिक अशांति बहुत है। प्रश्न होता है— मानसिक अशांति ज्यादा क्यों है? आज केवल मानसिक तनाव को मिटाने के लिए दुनिया भर में खरबों रुपये की दवाइयां खाई जाती हैं। क्या दवाइयां मानसिक अशांति मिटा देंगी? जब तक बहिरात्म भाव जिंदा है तब तक चाहे दुनिया भर की दवाएं खा लें, मानसिक अशांति नहीं मिटेगी। क्योंकि मानसिक अशांति उसका परिणाम है।

समाधान का सूत्र

हम बहिरात्म भाव को केवल अध्यात्म के संदर्भ में ही न देखें। आज के समाज की समस्याओं के संदर्भ में भी इसका अध्ययन करें। पूछा जाए— आज पूरे विश्व में

पूरी मानव जाति में जो समस्याएं उभर रही हैं, उनका कारण क्या है ? उत्तर होगा— इसका कारण है बहिरात्मा । जहां-जहां बहिरात्मा है वहां-वहां समस्याओं का जन्म होगा । उन्हें मिटाया नहीं जा सकेगा ।

एक आदमी बैलगाड़ी पर सारा समान लादकर जंगल में जा रहा था ।

लोगों ने पूछा— 'कहां जा रहे हो ?'

'गांव में गंदगी बहुत हो गई इसलिए जंगल में जा रहा हूं ।'

'भले आदमी ! तुम गांव में ही रहो । जंगल को तो साफ रहने दो । गांव में गंदगी आदमी ने ही की है । यदि तुम जंगल में जाओगे तो जंगल को भी गंदा बना दोगे ।'

सारी समस्याएं और गंदगी पैदा कर रहा है हमारा बहिरात्म-भाव । जब तक हम बहिरात्म-भाव को मिटाने की बात नहीं सोचेंगे, आत्मा के भीतर जाने की बात नहीं सोचेंगे, तब तक समस्याओं का समाधान हो सके ऐसा सम्भव नहीं लगता ।

अन्तरात्मा

क्षितिज वह बिन्दु है, जहां धरती और आकाश— दोनों मिल जाते हैं। बहिरात्मा वह बिन्दु है, जहां शरीर और आत्मा—दोनों मिल जाते हैं। उनका अस्तित्व अलग होता ही नहीं। क्षितिज में जिया नहीं जा सकता। उसकी कल्पना की जा सकती है। वह दृष्टि का भ्रम हो सकता है। वस्तुतः जीना और रहना धरती पर है। यहां सारे भ्रम टूट जाते हैं।

भूमि भूमि है
गगन गगन है
नहीं गगन में भूमि
नहीं भूमि में गगन
गगन भूमि के संबंधों में
विभ्रम-विभ्रम
मति का भ्रम है।

हमने भूमि और आकाश को एक मान लिया और क्षितिज की कल्पना कर डाली। जब यह भ्रम टूटता है तब गगन गगन रहता है और भूमि भूमि।

निश्चय नय की भाषा

उपचार की भाषा है— आकाश में सब हैं। निश्चय नय की भाषा होगी— सर्व आत्मप्रतिष्ठितम् सब आत्म प्रतिष्ठित हैं। कोई किसी में नहीं है। जहां वास्तविक सत्य है, वहां आधार और अध्येय का संबंध समाप्त हो जाता है, सारे आत्म-प्रतिष्ठित होते हैं। निश्चय नय की भाषा में हमारी दृष्टि होती है— आत्मा आत्मा है, शरीर शरीर है। शरीर में आत्मा नहीं है और आत्मा में शरीर नहीं है। शरीर की सत्ता अपने आप में है, आत्मा की सत्ता अपने आप में है। हमने भ्रमवश उन्हें एक मान लिया। तर्कशास्त्र में कहा जाता है— उत्पन्नपुरुषभ्रांतेः स्थाणौ यद्वद् विचेष्टितम्। स्थाणु में पुरुष की कल्पना एक भ्रम है। किसी व्यक्ति ने स्थाणु— स्तंभ को देखा और उसे पुरुष मान लिया। वह उससे भ्रांत हो जाता है, उसकी चेष्टाएं बदल जाती हैं।

सम्यग् दर्शन का अर्थ

जहां-जहां विभ्रम होता है, वहां-वहां चेष्टाएं बदल जाती हैं। अन्तरात्मा होने पर भ्रम टूट जाता है। बहिरात्मा भ्रम का जीवन जीता है। जैसे ही व्यक्ति अन्तरात्मा बनता है, भ्रांतियां टूट जाती हैं, सचाई सामने प्रस्तुत हो जाती है। जो जैसा होता है वह वैसा ही दिखने लग जाता है। अन्तरात्मा का मतलब है— यथार्थवाद और सम्यग् दर्शन। जब सम्यग् दृष्टि के क्षण जीवन में आते हैं, सब-कुछ बदल जाता है।

कषोपला विवर्तन्ते, श्रेयः प्रयोऽिभवाधते ।

देहस्थाने स्थितश्चात्मा, जाते सम्यक्त्वदर्शने ॥

सम्यग् दर्शन के प्राप्त होने पर कसौटियां बदल जाती हैं, प्रेय श्रेय से बाधित हो जाता है और आत्मा देह के स्थान पर स्थित जाती है।

जब सम्यग् दर्शन प्रकट होता है, परमानन्द उदित होता है तब सारी कसौटियां बदल जाती हैं, सारे मापदण्ड बदल जाते हैं। मिथ्यादृष्टि की कसौटी में वह व्यक्ति बड़ा है, जिसके पास धन ज्यादा है, सत्ता ज्यादा है, शक्ति ज्यादा है। उसकी दृष्टि में सम्राट् श्रेणिक बड़ा होगा, पूनिया श्रावक बड़ा नहीं होगा। जब सम्यग् दर्शन उपलब्ध होता है, यह कसौटी बदल जाती है। सम्यग् दृष्टि व्यक्ति की दृष्टि में सम्राट् श्रेणिक बड़ा नहीं होगा। श्रेणिक आज राजा है लेकिन कल क्या होगा? कहां जाएगा? भगवान् महावीर ने कह भी दिया था— श्रेणिक! तुम मरकर नरक में जाओगे। जिस श्रेणिक से हजारों आदमी कांपते थे, वह नरक में जाएगा और स्वयं प्रकम्पित बना रहेगा। ऐसा व्यक्ति बड़ा कैसे हो सकता है? बड़ा वही है, जिसने सम्यग् दर्शन पा लिया। वह यहां भी शान्ति का जीवन जिएगा और आगे भी शान्ति का जीवन जिएगा।

मूल्यांकन की दृष्टि

बहिरात्मा प्रत्येक घटना या पदार्थ का मूल्यांकन प्रियता के आधार पर करता है। जो चीज खाने में अच्छी है, प्रिय लगती है व्यक्ति उसे खाने के लिए लालायित बना रहता है। चाहे उससे आंतें खराब हो जाएं, स्वास्थ्य बिगड़ जाए। उसके सामने स्वास्थ्य का प्रश्न गौण होता है और प्रियता मुख्य। जब तक आदमी बहिरात्मा बना रहता है, अपनी आत्मा के बाहर चक्कर लगाता रहता है तब तक उसकी दृष्टि प्रयोन्मुखी बनी रहती है। व्यक्ति जैसे ही अन्तरात्मा बनता है, उसके मूल्यांकन का आधार बदल जाता है। वह घटना या पदार्थ को प्रियता की दृष्टि से नहीं देखेगा। उसकी दृष्टि श्रेयोन्मुखी होगी। उसके लिए प्रेय के स्थान पर श्रेय मुख्य बन जाएगा।

जब सम्यग् दर्शन अभिव्यक्त होता है, व्यक्ति अन्तरात्मा बन जाता है। बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने का अर्थ है— जिस सिंहासन पर शरीर बैठा है, उस सिंहासन पर आत्मा को बिठा देना। उसकी दृष्टि में शरीर का आधार आत्मा बन जाती है।

बहिरात्मा तु सर्वत्र शरीरमनुवर्तते ।
अन्तरात्मा शरीरं च पुष्पात्मात्मानमीक्षते ॥

बहिरात्मा सर्वत्र शरीर का अनुवर्तन करता है । अन्तरात्मा शरीर को पुष्ट करता है किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा की ओर लगी रहती है ।

शरीरलक्षी : आत्मलक्षी

बहिरात्मा का चिंतन होता है— शरीर और इन्द्रियां स्वस्थ रहे, प्रसन्न रहे । उसके सारे कार्य इसी धारणा के आधार पर संपादित होते हैं । अन्तरात्मा भी शरीर का सम्यग् भरण-पोषण करता है किन्तु उसकी दृष्टि आत्मा पर केन्द्रित रहती है । एक शब्द में कहा जाए तो मात्र शरीरदर्शी बहिरात्मा हैं और आत्मदर्शी अन्तरात्मा हैं । बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनने का अर्थ है— शरीरलक्षी से आत्मलक्षी बन जाना । यह दृष्टिकोण का अन्तर व्यक्ति को बाहर से भीतर की ओर ले आता है । उसका दृष्टिकोण बदलता है और यही बदलाव का मुख्य घटक है । दृष्टिकोण बदला कि आदमी बदला । जब यह दृष्टि स्पष्ट होती है— आत्मा भिन्न है, शरीर भिन्न है तब एक नई धारणा बनती है, व्यक्ति का चिंतन बदलता है, आचार और व्यवहार बदलता है । एक अवधारणा व्यक्ति को सुखी बना देती है और दूसरी अवधारणा उसे दुःखी बना देती है । दुःख का कारण है—मूलं संसारदुःखस्य देहे एवात्मधीः

समस्त दुःखों का मूल है शरीर को आत्मा मान लेना । यदि यह दृष्टिकोण बदले, आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है, यह सचाई समझ में आए, व्यक्ति अपनी दृष्टि को इन्द्रियों से हटाकर अपने भीतर टिकाए तो सारी स्थितियां बदल जाए, चिन्तन और व्यवहार बदल जाए ।

अन्तरात्मा का दृष्टिकोण

अन्तरात्मा का एक लक्षण है— आत्मा को शरीर से भिन्न मानना । उसका दूसरा लक्षण है— आसक्ति का कम होना । जैसे ही व्यक्ति अन्तरात्मा बनता है, आसक्ति में अन्तर आना शुरू हो जाता है, अनासक्ति का उदय होता चला जाता है । भरत चक्रवर्ती अन्तरात्मा थे । उन्होंने पूरा राज्य किया, सारे भोग भोगे और वे आदर्शगृह में बैठे-बैठे केवली बन गए । यह है अन्तरात्मा का अनासक्त भाव । अन्तरात्मा में अनासक्ति का क्रमिक विकास होता चला जाता है, अनासक्ति बढ़ती चली जाती है, धन के प्रति लालसा कम होती चली जाती है । उसके लिए धन मात्र साधन होता है, साध्य नहीं होता ।

अन्तरात्मा का दृष्टिकोण पदार्थ प्रतिबद्ध नहीं रहता । आचार्य भिक्षु ने लिखा— धाय बच्चे को खलाती है, पिलाती है, उसका लालन-पालन करती है किन्तु वह यह जानती है— यह बच्चा मेरा नहीं है । वैसे ही सम्यग् दृष्टि व्यक्ति अपने कुटुम्ब की प्रतिपालना करता है किन्तु उसके भीतर में लगाव नहीं होता । वह यह जानता है— कुटुम्ब मेरा नहीं है ।

जे समदृष्टि जीवड़ा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर में न्यारा रहे, ज्युं धाय खिलावे बाल ॥

करुणा के निदर्शन

अन्तरात्मा का तीसरा लक्षण है— करुणा । जब आसक्ति कम होती है करुणा जाग जाती है । अन्तरात्मा क्रूरतापूर्ण व्यवहार नहीं कर सकता । श्रीमद्राजचन्द्र को देखें, जिन्होंने कहा था— राजचन्द्र दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता । उत्तमचन्दजी बैगाणी का देखें, जिन्होंने कहा था— जिस अशुभ हीरे के कारण मुझे पुत्र वियोग का दुःख झेलना पड़ रहा है, उस हीरे को बेचकर मैं किसी भी पिता को पुत्र वियोग से दुःखी देखना नहीं चाहता । मैं इसे बेचने के वनिस्पत कुएं में डालना पसंद करूंगा । ये हैं करुणा के निदर्शन । जिसमें करुणा जाग जाती है, उसकी भावना बदल जाती है ।

मानसिक अशांति का प्रश्न

अन्तरात्मा का पांचवां लक्षण है— मानसिक शांति । उसके मन में बड़ी शांति रहती है । कभी अशांति आती ही नहीं ।

तत्त्वार्थसूत्र का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है— परस्पोदीरितदुःखाः । नरक के प्रसंग में आचार्य उमास्वाति ने लिखा— नरक में जो नारक हैं, वे परस्पर एक-दूसरे को दुःख देते हैं । नारक हैं, उनमें अवधिज्ञान का विभ्रम होता है । परिणामतः उनके भावों में आवेश होता है, उनके कषाय प्रबल होते हैं और वे परस्पर एक दूसरे के दुःख की उदीरणा करते हैं, एक-दूसरे को सताते रहते हैं । जो सम्यग्दृष्टि नारक हैं, वे परस्पर दुःखी नहीं होते क्योंकि वे सोचते रहते हैं हमने जो पाप किया, उसका परिणाम आज भुगत रहे हैं । अब ऐसा कोई काम नहीं करना है, जिससे आगे भी कष्ट भोगना पड़े । वे निरन्तर इस चिन्तन में अपनी आत्मा को लगाए रखते हैं । इसलिए वे परस्पर दुःख की उदीरणा नहीं करते ।

मिथ्यादृष्टि नारक दो प्रकार का दुःख भोगता है । एक क्षेत्र के अनुभव से होने वाला सर्दी और गर्मी का दुःख । दूसरा परस्पर उदीरणा से होने वाला दुःख । सम्यग्दृष्टि एक ही प्रकार का दुःख भोगता है वह केवल क्षेत्र की संयोजना से होने वाला दुःख भोगता है, शेष सारे दुःखों से बच जाता है । दृष्टिकोण के बदलाव से यह अन्तर घटित होता है ।

दृष्टि का भ्रम टूटे

हम इस तथ्य को पारिवारिक और सामाजिक संदर्भ में देखें । परिवार में कलह हो जाता है, समस्याएं उभर जाती हैं । यदि गहराई में जाएं तो इसका प्रमुख कारण दृष्टिकोण का ग.। होना है । अगर दृष्टिकोण सम्यक् बन जाए तो कलह का बहुत निवारण हो जाए । जो व्यक्ति अपना आत्मनिरीक्षण करेगा, अपने आपको देखेगा, वह केवल दूसरे

की कमी को देखकर उस पर हावी नहीं होगा। यह अन्तर्दर्शन या सम्यग्दर्शन पारिवारिक सामाजिक और संस्थागत झगड़ों को समाप्त करने का बहुत बड़ा उपाय है। आदमी का दृष्टिकोण बदलता है तब समस्याएं सुलझती हैं। अधिकांश समस्याएं भ्रमवश उलाती हैं। जो शरीर को ही आत्मा मानता है वह भ्रम में है। इस भ्रम के टूटते ही मानसिक अशांति अपने आप समाप्त हो जाए।

हमारी आत्मा की दूसरी अवस्था है— अन्तरात्मा होना। बहिरात्मा को अतिक्रान्त कर अन्तरात्मा में चले आना, बाहर ही बाहर चक्कर लगाना बन्द कर अपनी आत्मा में आ जाना, अपने घर में आ जाना। जो व्यक्ति अन्तरात्मा की सन्निधि में आ जाता है सचमुच उसकी भ्रांतियां टूट जाती हैं, वह सदा मानसिक शांति का जीवन जीना सीख लेता है।

राग और विराग का दर्शन

विषययेषु विरागस्ते, चिरं सहचरेष्वपि ।
योगे सात्स्यमदृष्टेऽपि, स्वामिन्निदमलौकिकम् ॥

आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा— भगवान् ! आपकी बात अलौकिक है, लौकिक नहीं है, लोकोत्तर है। आपके जो पुराने साथी हैं। उनके प्रति आपका विराग है। पांच इन्द्रियों के विषय आपके चिर सहचर हैं, फिर भी आपका उनके प्रति अनुराग नहीं है। योग के प्रति आपका अनुराग है। आपने योग को कभी देखा ही नहीं। उसके साथ अनुराग ही नहीं, ऐकात्म्य है। यह आपकी अलौकिकता है।

राग से चलता है समाज

परमात्मा की चर्चा अलौकिकता की चर्चा है। वहां अलौकिकता की सीमा समाप्त हो जाती है, एक नई सीमा शुरू हो जाती है। वह एक नया देश है। वहां जाने वाला कोई भी व्यक्ति वापस यहां नहीं आता। परमात्मा अलौकिक होता है। समाज लौकिक चेतना के आधार पर चलता है। लौकिक चेतना का अर्थ है— रागात्मक चेतना। समाज राग से चलता है। जितने साहित्यकार हुए हैं, उन्होंने स्वीकार किया है— समाज का मुख्य तत्त्व है— रागात्मकता। यदि रागात्मकता नहीं है तो कविता कविता नहीं है, साहित्य साहित्य नहीं है, नाटक नाटक नहीं है। नाटक, कविता, उपन्यास, साहित्य— इन सबका प्राण तत्व है— रागात्मकता। रागात्मकता के बिना सामाजिक जीवन सूना-सूना लगता है। जब हम समाज से व्यक्ति के स्तर पर आते हैं तब एक नया तत्व प्रस्फुटित होता है। वैयक्तिक जीवन का मूल तत्त्व है— विराग। समाज का अर्थ है रागात्मक चेतना और व्यक्ति का अर्थ है विराग चेतना। राग लौकिक है और विराग अलौकिक।

हमारी दुनिया विचित्र है। हम जीते हैं राग में और चर्चा सुनना चाहते हैं विराग की। जीवन जीते हैं सराग का और आदर्श मानते हैं विराग को। आज तक किसी भी धर्म ने राग को आदर्श नहीं माना। धर्म का आदर्श है परमात्मा। राग-द्वेष से जो मुक्त है, वह परमात्मा है। दुनिया का यही वैचित्र्य है— राग का जीवन जीना और वीतराग को इष्ट या आदर्श मानना। इसके पीछे एक बहुत बड़ा बौद्धिक कारण है। यदि राग को आदर्श माना जाए तो राग इतना भयंकर बन जाएगा कि आदमी जी नहीं सकेगा।

जब तक समाज के सामने विराग का दर्शन है तब तक समाज ठीक चलता है। यदि राग का एकछत्र साम्राज्य फैल जाए तो समाज की व्यवस्था एक दिन में चरमरा जाए।

हिंसा अहिंसा के सहारे

पूज्य गुरुदेव ने कलकत्ता चतुर्मास के दौरान काशीपुर की एक प्रवचन सभा में कहा था— “आ हिंसा अहिंसा के कंधों पर बैठकर चल रही है। झूठ सत्य के सहारे पल रहा है। यदि ऐसा अवसर प्रस्तुत हो जाए, चौबीस घंटे केवल हिंसा ही हिंसा चले तो कौन बच पाएगा? अहिंसा है इसीलिए हिंसा चल रही है। सब मिलकर हिंसा की होती खेलें तो परिणाम क्या होगा? बाजार में दुकानों पर लिखा होता है— असली देशी घी की मिठाइयां मिलती हैं, शुद्ध माल, मिलता है। सारे पट्ट सचाई के मिलेंगे किन्तु उनकी ओट में झूठ पलता है।

एक ज्वलंत समस्या है अपराध की। प्रश्न होता है— समाज में अपराध क्यों बढ़ते हैं? जब राग उच्छृंखल बनता है, अपराधों को पनपने का अवसर मिलता है। राग पर अंकुश बना रहे तो अपराध नियन्त्रित रहेंगे। पुलिस कभी अपराध की रोकथाम नहीं कर सकती। जब तक राग के सामने विराग का आदर्श नहीं होगा, अपराध की रोकथाम संभव नहीं हो पाएगी।

जरूरी है विराग दर्शन

अपराध का रोकने का सबसे बड़ा सूत्र है— राग के साथ-साथ विराग का दर्शन। यदि हम वीतराग को अपना आदर्श मानें और णमो अरहंताणं को याद करते चले जाएं तो राग पर एक अंकुश लग जाए। यह सच है कि कोई व्यक्ति एक दिन में अर्हत् नहीं बन सकता। यदि अर्हत् बनने का संकल्प मन में उतर जाए, यह आदर्श मन में रम जाए तो राग नियंत्रित बना रहेगा, उच्छृंखल नहीं होगा। यह नहीं सोचा जा सकता— समाज का बहिरात्मभाव समाप्त हो जायेगा, सब अन्तरात्मा बन जायेंगे। यह इष्ट और वांछनीय है किन्तु ऐसा होता नहीं है। बहिरात्मा व्यापक संख्या में हैं। हम उनके सामने परमात्मा का दर्शन प्रस्तुत कर सकते हैं। उन्हें यह बताया जा सकता है— समाज को ठीक चलाने के लिए परमात्मा का होना आवश्यक है। अगर परमात्मा का भाव नहीं रहा तो समाज ठीक नहीं चलेगा। व्यक्ति के जीवन में कभी-कभी एक क्षण ऐसा आता है, परमात्मा-दर्शन का आलोक उसके जीवन को उजाले से भर देता है, व्यक्ति बहिरात्मा से परमात्मा की दिशा में प्रस्थान कर देता है।

राग का निदर्शन

इलाचीकुमार ने एक सम्पन्न घर में जन्म लिया। जब उसने यौवन में प्रवेश किया तब एक नटमण्डली उसके नगर में आई। नटों ने अपने खेल दिखाए, करतब दिखाए।

इलाचीकुमार उनके करतब देखकर मुग्ध हो गया ।

हर आदमी में राग होता है । नाटक, सिनेमा आदि से राग को उद्दीपन मिलता है, राग प्रबल बनता है । नटराज की कन्या बहुत सुन्दर थी । इलाचीकुमार उस नट कन्या पर मुग्ध हो गया । नाटक सम्पन्न हुआ । इलाचीकुमार अपने घर आया किन्तु उसका मन उस नटकन्या में उलझ गया । उसने अपने पिता से कहा— मैं उस नटकन्या से विवाह करना चाहता हूँ ।

पिता ने कहा— यह कभी सम्भव नहीं है ।

उस जमाने में जातिप्रथा का बोलबाला था । एक ओर कुलीन वंश, उच्च गोत्र और सम्पन्न, समृद्ध परिवार था तो दूसरी ओर नट जैसे निम्न कर्म के आधार पर जीविकोपाजन करने वाला परिवार । दोनों में कहीं मेल नहीं था । इलाचीकुमार के अनुरोध को सर्वथा अस्वीकार कर दिया गया ।

इलाचीकुमार ने कहा— उसके बिना मेरा जीना भी सम्भव नहीं है ।

जब राग चरम सीमा पर पहुंचता है तब आदमी क्या-क्या कर लेता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती । बात तन गई ।

अंततः पिता ने कहा— जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो ।

वह नटराज के पास गया । उसने नटराज से कहा— मैं एक मांग लेकर आया हूँ ।

‘बोलो ! क्या चाहते हो ?’

‘मैं तुम्हारी कन्या से शादी करना चाहता हूँ और इसके बदले मैं तुम्हें तुम्हारी कन्या के तौल के बराबर सोना दूंगा ।’

मुझे यह शर्त मान्य नहीं है । मैं अपनी कन्या तुम्हें नहीं दे सकता ।

इलाचीकुमार यह सुनकर अवाक् रह गया ।

नटराज ने कहा— ‘जो व्यक्ति अपने पिता के धन के सहारे जीता है, उसे मैं अपनी कन्या नहीं दे सकता । मैं अपनी कन्या का विवाह उसीके साथ करूंगा, जो अपना गुजारा अपने पुरुषार्थ से चलाएगा । दूसरों के सहारे अपना जीवन जीने वाले व्यक्ति को मैं कन्यादान नहीं करूंगा ।’

यह बहुत मार्मिक बात है । दूसरे के भरोसे पर जीने की बात बहुत खतरनाक होती है । प्रसिद्ध कहावत है— पूत कपूतां यूं धन सांचै, पूत सपूतां क्यूं धन संचै— ‘इसे गाया तो बहुत किन्तु यह सत्य व्यक्ति के मानस में रमा नहीं ।’

इलाचीकुमार ने कहा— ‘आप अपनी शर्त प्रस्तुत करें । मैं उसे पूरा करने के लिए कटिबद्ध हूँ ।’

‘अगर मेरी कन्या से शादी करना है तो नटमण्डली में आओ, नट के करतब सीखो, धन कमाओ और सारी नटमण्डली को सन्तुष्ट करो । यदि इतना धैर्य है तो शादी की बात रो ।’

शर्ते बड़ी कठोर थीं। पर राग क्या-क्या नहीं करता ! इलाचीकुमार ने सारी शर्ते स्वीकार कर लीं। वह वैभवशाली घर को छोड़कर नट मण्डली में शामिल हो गया। उसने नटविद्या सीखी। वह कुशल नट बन गया। एक दिन ऐसा योग मिला— एक राजा के सामने नटमण्डली का प्रोग्राम था। इलाचीकुमार ने आश्चर्यकारी करतब दिखाए। राजा को छोड़कर सारे सभासद, सारी प्रजा मुग्ध हो गई। राा का मन नटन्या म उला गया। राजा ने सोचा— जब तक यह नट कलाकार जिन्दा है तब तक नटकन्या मेरे हाथ नहीं आ सकती अगर बांस पर खेलत-खेलते यह नट गिर कर मर जाए तो मैं इस कन्या को पा सकता हूं।

विराग का क्षण

जब राग उच्छृंखल होता है तब समाज में अपराध कैसे बढ़ते हैं— यह इसका सजीव चित्र है। एक प्रहर बीता। नट बांस से नीचे उतरा। सबने प्रशंसा की, मगर राजा ने कहा—मुझे पसन्द नहीं आया। तुम पुनः करतब दिखाओ। इलाचीकुमार पुनः बांस पर चढ़ा। उसने पुनः रोमांचक करतब दिखाए। राजा ने उदासीनता से कहा— तुमने तो अच्छे करतब दिखाए मगर मुझे सन्तोष नहीं हुआ। नट ने सोचा— राजा की नीयत खराब है। यह मुझे मारना चाहता है। कन्या के आग्रह पर नट एक बार फिर बांस पर चढ़ा। उसने देखा सामने वाले घर में एक सुन्दर सी कन्या एक मुनि को भिक्षा दे रही है। वह कन्या नटकन्या से भी सुन्दर है पर साधु ने उसकी ओर देखा तक नहीं। वह विस्मय से भर गया। उसके मन में प्रश्न उभरा— यह क्या ?

राग के उफान पर विराग का एक छींटा पड़ गया। वह चिन्तन की गहराई में उतरा— मैं एक नटकन्या के पीछे पागल बना घूम रहा हूं। मैंने घर छोड़ा, परिवार छोड़ा। नटकर्म जैसा कर्म अपनाया। गांव-गांव घूमता हूं, नाटक दिखाता हूं। न खाने का समय और न कोई सुख-सुविधा। नटकन्या के लिए अपनी संभ्रांतता छोड़ चुका हूं। दूसरी ओर वह मुनि है, जिसने रूपसी कन्या पर दृष्टिपात भी नहीं किया।

वह गहराई में डूबता चला गया। राग के उद्दाम प्रवाह पर एक अंकुश लग गया। विराग ने राग को क्षीण बना दिया। वह बांस से नीचे उतरा, सीधा सभा से बाहर जाने लगा।

नटकन्या बोली— 'कहां जा रहे हो ?'

इलाचीकुमार ने कहा अलविदा !

नटकन्या ने कातर स्वर में कहा— 'क्या हुआ ?'

इलाचीकुमार ने कहा— 'जो होना था हो गया, जो पाना था पा लिया। अब कुछ भी पाने की आकांक्षा शेष नहीं है।'

कहा जाता है— इलाचीकुमार ऊपर चढ़ा था रागी बनकर और नीचे उतरा वीतरागी

बनकर। चढ़ा था अल्पज्ञान की अवस्था में, उतरा केवलज्ञानी होकर। जैसे भरत महलों को छोड़कर चल दिये वैसे ही इलाचीकुमार ने नटमण्डली को छोड़कर प्रस्थान कर दिया।

विराग का चिराग जले

यह सामाजिक जीवन का एक बहुत सुन्दर चित्र है। जब समाज में केवल राग ही राग बढ़ता है तब समस्याएं उग्र बनती हैं, विकृतियां पैदा होती हैं। राग के सामने विराग का चिराग नहीं जलेगा तो राग उच्छृंखल बन जाएगा, खतरनाक बन जाएगा। राग के सामने विराग का होना जरूरी है और उस विराग का होना ही परमात्मा का होना है। परमात्मा का मतलब है— भीतराग होना, राग से विराग की दिशा में प्रस्थान कर देना। कहा गया— परमात्मातिनर्मलः— जीवन में निर्मलता का आना, वीतरागता का आना परमात्मा का होना है।

परमात्मा होने के भी कई कारण हैं। इलाचीकुमार के जीवन में एक घटना घटी, वह रागी से विरागी बन गया। यह विवेक के द्वारा भी सम्भव है। प्रश्न पूछा गया— आत्मा परमात्मा कब बनता है? आचार्य ने समाधान की भाषा में कहा—

उच्छसिए मणगेहे, नट्ठे निस्सकरणवावारे ।

विप्फुरिए ससहावे, अप्पा परमप्पओ हवदि ॥

जब मन का घर उजड़ जाएगा, इन्द्रियों के प्रयत्न समाप्त हो जाएंगे, आत्मा का अपना मौलिक स्वभाव प्रकट हो जाएगा तब आत्मा परमात्मा बन जाएगा।

जरूरत है दिशा बदलने की

आत्मा और परमात्मा में ज्यादा दूरी नहीं है। केवल दिशा बदलने की जरूरत है। दिशा बदले, दृष्टि बदले तो सारा जीवन बदल जाता है जिसकी दृष्टि बदल जाती है उसका अहंकार भी बोध के लिए होता है, राग भी गुरु-भक्ति के लिए होता है और विषाद भी कैवल्य के होता है—

अहंकारोऽपि बोधाय, रागोऽपि गुरुभक्तये ।

विषादः केवलायाऽभूत्, चित्रं चित्रं श्रीगौतमप्रभो ! ॥

जब दृष्टि बदलती है, तब व्यक्ति के जीवन में व्रत, त्याग और विराग आता है। जब जीवन में व्रत और विराग आता है, तब व्यक्ति का परमात्मा की ओर प्रस्थान हो जाता है।

राग : विराग

यदि पूछा जाए— समाज का परम तत्त्व क्या है? उत्तर होगा— राग। जब व्यक्ति समाज की सीमा का अतिक्रमण कर अपनी ओर मुड़ जाता है तब विराग परम तत्त्व बन जाता है—

समाजस्य परं तत्त्वं, राग इत्यभिधीयते ।

समाजं समतिक्रान्तः, विरागो व्यक्तिमाश्रितः ॥

इस सच्चाई की ओर ध्यान केन्द्रित होना जरूरी है । यदि विराग का आदर्श सामने नहीं रहा तो राग समाज में विकार का कारण बनेगा । इसीलिए रागी व्यक्तियों के सामने भी विराग का आदर्श जरूरी है ।

विरागेण विना रागाः विकारान् वितनोत्पलम् ।

तेनादर्शो विरागः स्याद्, रागिणामपि देहिनाम् ॥

आज का युग राग बहुल है । राग को उद्दीप्त करने वाले तत्त्व भी प्रचुर हैं । इस स्थिति में यदि राग को खुला अवकाश दे दिया गया तो समाज का जीवन नारकीय बन जाएगा, डकैती, बलात्कार, हत्या, अपराध आदि से समाज संव्रस्त बन जाएगा । आज के युग में विराग की चर्चा अधिक प्रासंगिक है । हम विराग की बात सुनें । विराग के प्रति श्रद्धा जागेगी तो राग की भभकती आग पर पानी का छिड़काव होगा ।

वैज्ञानिक चेतना से नशा मुक्ति

हमारे युवा वर्ग में नशा करने की आदत बड़ी तेजी से बढ़ रही है। नशा उर्दू भाषा का शब्द है। संस्कृत तथा हिन्दी में इसके लिए उन्माद या पागलपन शब्द है। चेतना का विकृत हो जाना, बिगड़ जाना, भान भूल जाना नशे की प्रकृति है।

विज्ञान का प्रतिपादन

नशा करना पहले भी चलता था, लेकिन इस प्रवृत्ति पर इतना ध्यान नहीं गया। जैन आचार्यों ने सात कुव्यसन बतलाए, उनमें एक नशा भी है। शराब का उसमें प्रतिपादन किया गया, छुड़ाया भी गया। एक ऐसी जाति का निर्माण कर दिया, जो मांस और शराब से बिल्कुल दूर हो गई। समझाने का पुराना तरीका यह रहा कि शराब पीना, नशा करना अच्छा नहीं। इससे चेतना विकृति होती है। परलोक में नरक मिलता है, इस तरह भय और विकृत में इसका प्रतिपादन किया गया। किन्तु विज्ञान ने इस विषय का जो प्रतिपादन किया है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। नशा आज एक समस्या के रूप में है। समस्या तो पहले भी थी किन्तु अब और जटिल बन गई है। सुना भी और पढ़ा है कि इन एक-दो वर्षों में अमरीका में दो करोड़ लोगों ने सिगरेट पीना छोड़ दिया। वहां पर सिगरेट पीना इसलिए नहीं छोड़ा कि मरने के बाद नरक मिलेगा, पाप कर्मों का बन्धन होगा, बल्कि इसलिए छोड़ी कि सिगरेट पीने से फैफड़े खराब होते हैं, स्वास्थ्य खराब हो जाता है। अवसर, दिल के दोरे पड़ना एवं कैंसर जैसी भयंकर बीमारियों से व्यक्ति ग्रसित हो जाता है। जब से नशे से होने वाले नुकसानप्रद तथ्यों को डाक्टरों, वैज्ञानिकों ने जनता के सामने रखा तो सब लोग चौंक गए। इतने भयभीत हुए कि समझाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। स्वतः ही नशा छोड़ते गए। किसी ने यह भी नहीं कहा, “तुम्हें छोड़ देना चाहिए।” परिणाम सामने आया तो लोगों में आशंकाएं एवं आतंक पैदा हुआ। अर्थ की हानि और मौत को निमंत्रण मिल जाए, इससे बढ़कर और खतरनाक क्या बात हो सकती है ?

तम्बाखू: भयंकर नशा

तम्बाखू इन दिनों नशे में खूब काम आ रही है। बीड़ी, सिगरेट एवं खैनी सभी में तम्बाखू के ही अलग-अलग रूप हैं। तम्बाखू का खाना, पीना एवं होठों में दबाकर

चूसना, सूंघना इत्यादि। ये सभी तरीके तम्बाखू के इस्तेमाल में प्रयोग किए जाते हैं। आज के युवा वर्ग का बढ़ता शौक जब आदत में परिवर्तित हो जाता है तब समाज के सामने विकट स्थिति पैदा हो जाती है। इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए सरकार ने एक कानून पास कर नशे के पैकेट चाहे जर्दे का हो या सिगरेट का, उन पर लिखना आवश्यक कर दिया कि 'सिगरेट स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है'। फिर भी वर्तमान में लोग नशे की आदत को छोड़ने को राजी नहीं हैं। सिगरेट पीते हैं, बीड़ी पीते हैं एवं जर्दा भी खाते हैं। मैंने लोगों से पूछा— "तुम बीड़ी पीते हो, जो हिदायत लिखी रहती है; उसको पढ़ा कि नहीं?" उत्तर मिला— "हिदायत को पढ़ते हैं और पीते भी हैं।" इसका अर्थ है कि आज मानव अपने स्वास्थ्य के प्रति जागरूक नहीं है। भयंकर बीमारियों को आमंत्रण दिया जा रहा है। यहां तक कि कैंसर जैसी लाइलाज बीमारी के प्रति भी लापरवाह हैं।

कारण है तनाव

जब हम नशे का कारण खोजते हैं तो पता लगता है कि आदमी में तनाव बहुत है। अगर तनाव नहीं हो तो आदमी नशा भी क्यों करेगा? तनाव रहित व्यक्ति कभी जानबूझ कर पागल थोड़े ही बनता है, बल्कि सत्य तो यह है कि व्यक्ति अपना तनाव समाप्त करने के लिए नशे का आदी हो जाता है। आदमी में भय, चिन्ता या मानसिक तनाव होता है तो वह उससे छुटकारा पाने के लिए नशा भी करता है। हालांकि अब वर्तमान सामाजिक ढांचे में भौतिकता एवं पाश्चात्य संस्कृति की अन्धी दौड़ में स्त्रियों के शामिल होने के प्रयास से चिन्ताएं बढ़ी हैं और इसी कारण आ महिला वर्ग ने भी अपने-आप को नशे की पंक्ति में स्थापित कर दिया है। आज व्यक्ति की सामाजिक चिन्ताएं जैसे— घर खर्च, शादी-विवाह, दहेज का दावानल आदि सभी ने मिलकर तनाव का वातावरण बना दिया है। इस वातावरण से प्रताड़ित होकर व्यक्ति तनावों से क्षण भर मुक्ति पाने के लिए नशे की शरण प्राप्त करता है।

संपर्क और संगति

व्यक्ति का भावनाशील होना भी उसके लिए बड़ा खतरा साबित होता है। जीवन-सफर में विविध मोड़ों पर सम्पर्क में आने वाले उनके साथी हितैषी भी ऐसी आदत डाल देते हैं। आपसी सम्पर्क एवं संगति के कारण उनके आग्रहवश एक बार पीने वाला व्यक्ति हर बार पीने लगता है। यही हर बार पीना उसकी आदत में परिवर्तित होते ही वह उसका शिकार हो जाता है। फिर बिना नशा किए उसका जीवन दूभर हो जाता है; तो व्यक्ति को वह जहर बार-बार गले से उतारना ही पड़ता है। फिर तो वह अपने जीवन की शेष सांसों शराब के प्याले में, सिगरेट के धुंए में ही देखता है अर्थात् उसका जीवन नशे में बन्दी हो जाता है।

विज्ञापन

देश के हर कोने में किसी वस्तु को प्रसारित करने के लिए विज्ञापन अपनी अहम् भूमिका निभाते हैं। इसी का फायदा उठाया है नशीली वस्तुओं को बेचने वाली कम्पनियों ने। इन कम्पनियों ने इस प्रकार से नशीली वस्तुओं को विज्ञापित किया कि व्यक्ति उसकी ओर आकर्षित हुए बिना नहीं रह सकता। नशीली वस्तुओं में कुछ महक, सुगंध करने से व्यक्ति उसकी खुशबू के पीछे खिंचा चल जाता है। खाने वाले को लगता है कि जैसे अमृत मिल गया है। नशीली चीजों को खाने के बाद थूकना भी नहीं चाहता। एक बार के प्रयोग से लगता है कि जैसे वह दूसरी ही दुनिया में चला गया हो। फिर उससे छुटकारा पाना भी मुश्किल हो जाता है। नशा किए बगैर रहा नहीं जाता।

शराब भी बड़ी तेजी के साथ फैलती चली जा रही है। कई ऐसी जातियां, जो पहले शराब से मुक्त थीं, वे भी आज इस ओर बड़ी उग्रता से बढ़ती जा रही हैं। शराब पीकर कोई पागल तो नहीं बनना चाहता, मगर अपने तनावों को सहन भी नहीं कर सकता परिणाम होता है— व्यक्ति का शराबी बन जाता है।

उन्माद में क्या नहीं होता ?

एक शराबी पीकर सड़क के बीच में लेट गया। सामने से एक तांगे वाला आया। उसने कहा— “सड़क के बीच में कौन सोया है ? हटो !” एक-दो बार कहा तो भी वह न हटा। तांगे वाले ने गुस्से में आकर कहा— “हटते हो या नहीं ? मैं तांगा ऊपर से निकाल दूंगा।” शराबी बोला— “निकाल दे, मेरा क्या लेता है ?” तांगे वाले ने कहा— “मेरा क्या लेता है ? तेरा पैर कट जाएगा।” नशे में चूर शरीबी बोला— “कट जाएगा तो मेरा क्या लेता है।” तांगे वाले ने कहा— “पागल, पैर तेरा नहीं है क्या ?” शराबी बोला— “मेरा कहां है ? मेरे पैर में जूता था, इस पैर में नहीं है, यह पैर मेरा नहीं है।” यह है शराब का पागलपन।

ऐसी ही एक दूसरा उदारहण है— एक शराबी नशे में डूबा हुआ घर आ रहा था कि लड़खड़ा कर एक खड्डे में गिर गया। काफी खरोंचें आईं, हाथ-पैर एवं चेहरे पर। चेहरे से खून बह रहा था। घर पहुंचने पर पत्नी ने देखा तो वह बहुत शर्मिन्दा हुई पति से बोली— “आप स्नानघर में जाकर कांच में देखकर अपने मुंह पर महिम लगाओ।” शराबी अन्दर आया और सो गया। पत्नी ने देखा— खून तो अभी भी चेहरे से बह रहा है ? वह बोली— “आपने मल्हम नहीं लगाई।” पति बोला— “अभी-अभी तो स्नानघर में लगाकर आया था।” जब उसकी पत्नी स्नानघर में गई तो देखा— कांच पर मल्हम लगाई हुई थी। यह भी एक शराबी के नशे का ही पागलपन है।

इस तरह के न जाने कितने प्रसंग हैं, जिनमें आदमी अपनी सुध-बुध खोकर प्रमाद में चला जाता है, वह अपने अच्छे-भले स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठता है।

सेना के एक बड़े अफसर का पत्र मिला— “मैं बहुत शराब पीता हूँ। स्वास्थ्य बिगड़ गया। लीवर फैफड़ा खराब हो गया है। हार्ट भी कमजोर हो गया। डॉक्टर कहता है— शराब पीओगे तो मर जाओगे। मैं छोड़ना चाहता हूँ पर छूट नहीं रही है। आप कोई उपाय बताएं।”

उभरती समस्या और परिणाम

सचमुच नशे से आदमी बड़ी विकट स्थिति में चला जाता है। आज नशे का खतरा चरस, गांजा, हेरोइन, ब्राउन शुगर आदि नशीली दवाइयों के रूप में इस हद तक पहुंच गया है कि यह समस्या उग्र रूप से उभर कर आई है। आज इस समस्या ने बाकी सब समस्याओं को पीछे छोड़ दिया है। विश्वविद्यालय एवं शिक्षण संस्थान तो इसके अड्डे बनते जा रहे हैं। इन नशीले पदार्थों की तस्करी भी इतनी बढ़ गई है कि रोज अखबार के पृष्ठ इन्हीं खबरों से भरे रहते हैं। करोड़ों-करोड़ों रुपयों की हेरोइन एवं अन्य नशीले पदार्थ सीमाओं पर पकड़े जाते हैं। अब तो अंतर्राष्ट्रीय माफ़िया गिरोह भी हो गए हैं जो बड़ी ही सतर्कता से यह तस्करी करता है।

मद्रास की महिलाओं ने एक प्रदर्शन किया। उन्होंने राज्यपाल के पास जाकर एक ज्ञापन दिया कि शराब के कारण हमारे घर बर्बाद होते हैं अतः शराब को जैसे-तैसे बन्द किया जाए। पुरुष लोग घर की चिन्ता भी नहीं करते वे मस्ती में पीते चले जाते हैं। घर-परिवार के प्रति महिलाओं का ध्यान ज्यादा रहता है। अतः महिलाएं ज्यादा परेशान हैं।

इस समस्या पर कई स्वयंसेवी एवं धार्मिक संस्थाओं का भी ध्यान गया है। अणुव्रत आन्दोलन में एक नियम है कि मैं मादक द्रव्यों का सेवन नहीं करूंगा लेकिन नशा केवल कहने सुनने से नहीं छूटता है। उसके लिए तो प्रयोग करने होंगे।

नशे के ग्लानि या अरुचि पैदा की जाती है। इस दृष्टि से कान का उपयोग किया जाता है। जैसे कान हमारे सुनने के काम आते हैं लेकिन इसके और भी उपयोग हैं। कान हमारे जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। गर्भस्थ शिशु और बच्चे के कान का आकार समान होता है। कान में लाखों लाख स्रायु हैं जो कि हमारे सम्पूर्ण शरीर के साथ जुड़े हुए हैं। मस्तिष्क से लेकर पैर तक एक जाल बिछा हुआ है। कान का संबंध पेट से जुड़ा हुआ है। पाचन शक्ति के कमजोर होने पर कान का उपयोग होता है। महिलाएं कान में बालियां इसीलिए पहनती हैं कि इससे आवेग पर नियंत्रण रहता है।

कान का एक उपयोग नशे की वृत्ति को छोड़ने में भी है। इसका दूसरा नाम है अप्रमाद केन्द्र। कान आदमी की जागरूकता का केन्द्र है। सब जानते हैं कि आदमी से यदि भूल हो जाती है तो वह कान पकड़ता है। मतलब साफ है कि मेरी भूल हो गई है— आगे से ऐसी भूल नहीं करूंगा।

पुराने जमाने में गुरु शिष्यों के कान खींचते थे । आज शरीर-शास्त्रियों की नई खोज शुरू हुई है । एक बार कादम्बिनी में एक लेख जिसका शीर्षक था— 'कान खिंचाए, बुद्धि बढ़ाए', यह अप्रमाद की बात है । इस पर ध्यान करने से नशे की आदत भी बदल जाती है । इस पूरी विधि को समझना होगा पर यह अनुभूत बात है कि कान पर ध्यान करने से नशे की आदत बदल जाती है ।

गंगाशहर चातुर्मास में बीकानेर विश्रोई धर्मशाला में एक शिविर हुआ, उसमें एक युवक भी भाग ले रहा था । वह काफी बीमार हो चुका था । घर वाले परेशान थे । वह शिविर में आया तो हमें पता चला कि वह सिगरेट बहुत पीता है । हमने उस पर सिगरेट छोड़ने हेतु कोई दबाव नहीं डाला । केवल कुछ प्रयोग करवाए । शिविर पूर्ण हो गया । पांच-दस दिन बाद मैंने पूछा— "बोलो, तुम्हारी क्या स्थिति है ? सिगरेट पीते हो ?" वह युवक बोला— "क्या बताऊँ ? मुसीबत हो गई । पहले मैं प्रतिदिन पचास-साठ सिगरेट पीता था, अब अगर एक भी पीता हूँ तो इलायची खानी पड़ती है । लगता है अब मैं इस सिगरेट पर काबू पा लूँगा ।"

ध्यान से रासायनिक परिवर्तन

ध्यान से ऐसा रासायनिक परिवर्तन हो जाता है कि आदमी नशे में जा ही नहीं सकता । दीर्घ श्वास भी नशे को बदलने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है । इस पर हमारे यहां काम हुआ है । शुभकरण सुराणा अहमदाबाद जा रहे थे । रेल के जिस डिब्बे में वे बैठे थे, उसमें एक मुसलमान परिवार भी था । उनमें आपस में झगड़ा हो रहा था । एक युवक सिगरेट पी रहा था । उसकी मां-बहन उसे मना कर रही थीं और कह रही थीं कि "तू सिगरेट पीता है और चेन स्मोकर है, यह अच्छा नहीं है । इससे तुम्हारा स्वास्थ्य बिगड़ रहा है । युवक ने कहा— "मैं भी जानता हूँ । मैं मूर्ख नहीं हूँ, पढ़ा-लिखा हूँ । पर सिगरेट नहीं छोड़ूँगा, नहीं छोड़ सकूँगा ।"

शुभकरण वह सब देख-सुन रहे थे । उन्होंने बीच में हस्तक्षेप करते हुए कहा— "ठीक है कि तुम सिगरेट नहीं छोड़ सकते, पर मैं तुम्हें एक बढ़िया सिगरेट बताता हूँ । वह नुकसान भी नहीं करती, तब इस सिगरेट को छोड़ सकते हो ?" उसने कहा— "इससे बढ़िया सिगरेट हो तो फिर क्यों नहीं छोड़ूँगा ?"

उसे बताया गया— "तुम सिगरेट पीकर नाक से धुंआ निकालते हो । ऐसा करो कि बाएं नथूने से श्वास लो, दाएं नथूने से श्वास निकाल दो । इससे लेना और इससे छोड़ना बस यह क्रम चलता रहे । यह एक बढ़िया सिगरेट है; पीकर देखो ।" पता नहीं युवक को क्या जंचा, उसने वह सिगरेट पीना शुरू किया । पांच-दस मिनट तक ऐसा किया, फिर बोला— "यह तो अच्छी बात है, आनन्द आ गया । अब मैं सिगरेट छोड़ सकता हूँ ।"

शुभकरण ने कहा— “मैं ऐसा नहीं मानता । तुम मुसलमान हो । कुरान की कसम खाओ और कहो, अब मैं सिगरेट नहीं पीऊंगा ।” वह युवक सीट से उठा और पैर छूकर बोला— “मैं कुरान की कसम खाकर कहता हूँ कि अब नहीं पीऊंगा ।”

यह अनुलाम-विलोम श्वास का प्रयोग इतना महत्त्वपूर्ण है कि इससे आदत छूट जाती है ।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग नशा-मुक्ति का अचूक उपाय है । कई लोगों पर इसका प्रयोग किया जाता रहा है । अधिक से अधिक लोगों तक यह बात पहुंचाई जा रही है । एक बात तो साफ है कि आदमी चिंता में ज्यादा नहीं जी सकता । उसके लिए ही वह शरीर पीता है । क्या ध्यान भी कोई कम शराब है ? ध्यान मनुष्य को एक ऐसी मस्ती में ले जाता है कि वह एक अलग ही दुनिया है । वहां जाने पर सारी चिंताएं मिट जाती हैं । सारे तनाव समाप्त हो जाते हैं । इस सच्चाई को उजागर किया जाए । केवल उपदेश ही न दिए जाएं अपितु प्रयोग करवाए जाएं । इससे मनुष्य-मनुष्य का भला होगा । एक शक्तिशाली वातावरण का निर्माण होगा और लोगों को अपनी अपनी आदतों से बचने का तरीका उपलब्ध हो सकेगा ।

समस्या यानी सत्य की अनभिज्ञता

इस दुनिया में सबसे बड़ी समस्या है सत्य को न जानना । सारी कठिनाइयों और समस्याओं का मूल है सत्य को न जानना । आदमी यदि सत्य को जान लेता तो कोई समस्या नहीं होती । दुनिया में वस्तुतः कोई समस्या है ही नहीं, केवल सत्य की अनभिज्ञता ही समस्या है ।

सह अस्तित्व: सह अव स्थान

अभी रात है, किन्तु फिर भी प्रकाश देख रहा हूँ । रात में भी बिजली से प्रकाश जगमगा रहा है । प्रकाश और अन्धकार दोनों विरोधी युगल हैं किन्तु इनमें नितान्त विरोध नहीं है । दोनों एक साथ आ जाते हैं । सह अस्तित्व और सह-अवस्थान दोनों ही जरूरी हैं । स्याद्वाद विरोधी तत्त्वों के सहावस्थान की व्याख्या करता है । दो विरोधी बातों का एक साथ स्वीकार ही है स्याद्वाद और अनेकान्त । अनेकान्त और स्याद्वाद का फलित है सह-अस्तित्व ।

सह-अस्तित्व सत्य से फलित होता है किन्तु इस सत्य को पाने में अनेक कठिनाइयाँ हैं । मोह की कठिनाई है, संस्कारों की बाधा है और सबसे प्रबल कठिनाई है पकड़ या आग्रह की । ये व्यक्ति को सत्य तक पहुंचने नहीं देते । मनुष्य की बात छोड़ दें, कुत्ते को भी मोह हो जाता है और झूठे व्यामोह में वह फंस जाता है । एक धोबी के दो औरतें थीं और वे आपस में बहुत झगड़ती रहती थीं । उसी धोबी के घर पर शताबा नाम का कुत्ता रहता था । जब दोनों पत्नियाँ आपस में झगड़तीं तो एक दूसरे को 'शताबा की रांड' कहकर गालियाँ देतीं और मारपीट करतीं । इन झगड़ों में कुत्ते को रोटी नहीं डाली जाती और वह भूख से अधमरा हो गया ।

एक दिन दूसरी गली का कुत्ता उधर आ निकला और शताबा की हालत देखकर बोला— “मित्र ! यहां भूख से क्यों मर रहे हो ? मेरे साथ दूसरे मुहल्ले में चलो, वहां भरपेट भोजन मिलेगा ।” शताबा ने कहा— “मित्र ! यहां रोटी की कठिनाई जरूर है लेकिन दो-दो पत्नियों को छोड़कर कैसे जा सकता हूँ ?”

केवल गालियों में कुत्ते का नाम आने मात्र से वह कुत्ता अपने को दो-दो औरतों का स्वामी मान बैठा था । क्या यह व्यामोह नहीं ? एक नाम के व्यामोह में कुत्ता भूखा

मरता है। नाम और रूप— इन दोनों का व्यामोह बहुत होता है। जो ब्रह्म अकेला था उसने भी नाम और रूप के स्वरूप अवतार लिया, ऐसा कहा जाता है। नाम, आकार या रूप की कल्पना के आधार पर हमारा काम होता है। दैनिक जीवन और व्यवहार में व्यक्ति इनसे प्रभावित होकर कार्य करते हैं। जैन वेशभूषा वाले साधु को देखकर जैन वंदन करते हैं किन्तु वैष्णव और अन्य सम्प्रदाय वाले नहीं। वैसे ही वैष्णव वेशभूषा वाले संत को केवल वैष्णव सिर झुकाते हैं। साधुत्व और सचाई को लोग अकसर नहीं देख पाते हैं। केवल नाम, वेशभूषा और रूप के आधार पर हजारों व्यक्ति पूजे जाते हैं।

कारण है आवरण

लड़ाई-झगड़े शब्दों के आधार पर चलते हैं। वैमनस्य और युद्ध इसीलिए पनपते हैं। आज दुनिया की लड़ाई शब्दों पर चल रही है। नाम और रूप के आधार पर समस्त जगत् चल रहा है और सत्य को पकड़ने की यही बड़ी बाधा है। गधे की पूंछ पकड़ ली और अब गधा लात भी मार रहा है किन्तु व्यक्ति उस पूंछ को छोड़ना नहीं चाहता। शब्दों की पकड़ भी इसी प्रकार तीव्र हो जाती है। आज के धार्मिक भी शब्दों की पकड़ भी में चल रहे हैं। भगवान ने कहीं नहीं कहा कि 'मेरी पूजा-उपासना करना।' उन्होंने नैतिकता का उपदेश दिया। श्रावक के बारह व्रत बताये किन्तु भक्तों ने सीधा रास्ता निकाल कर केवल शब्द पकड़े और भगवान् की उपासना प्रारम्भ कर दी। उनके उपदेशों को जीवन में उतारने की ज़रूरत भूल गए। ऐसा क्यों होता है? इसका कारण है आवरण। आवरण आ जाने से व्यक्ति सत्य को देख नहीं पाता, उसे पहचान नहीं सकता। दर्पण है किन्तु यदि वह धुंधला है, उस पर परदा है, वह हिल रहा है तो उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं उभरेगा। यह हमारे मन का आवरण, उसकी चंचलता और व्यामोह ही हमें सत्य तक नहीं जाने दे रहा है। यदि आवरण, चंचलता, व्यामोह आदि की समस्या सुलझ जाए तो फिर कोई कठिनाई नहीं है।

सामंजस्य विरोधी हितों का

समाज के विरोधी हितों का क्या सामंजस्य नहीं किया जा सकता? यदि अनेकान्त और सह-अस्तित्व की दृष्टि अपनायी जाए तो सामंजस्य कठिन नहीं है।

एक कुम्हार के दो पुत्रियां थीं। एक किसान के और दूसरी कुम्हार के घर ब्याही गई थी। एक दिन पिता अपनी पहली पुत्री के घर गया, जो किसान की पत्नी थी, उससे पूछा कि सुखी तो है न? लड़की ने कहा— "और तो सब ठीक है पर वर्षा के बिना खेती चौपट हो रही है। इसलिए भगवान से प्रार्थना करो कि वर्षा करे।" दूसरी बेटी के घर गया, जो कुम्हार की पत्नी थी, उसने कहा— "पिताजी कच्चे घड़ों को पकाने के लिये अलाव जलाया है इसलिये भगवान से प्रार्थना करो कि वर्षा न हो, अन्यथा हम भूखे मर जायेंगे।"

किसान के लिये समस्या हो गई कि किसके लिये प्रार्थना करे ? एक पुत्री वर्षा चाहती है, दूसरी नहीं चाहती । उसने अनेकान्त से सामंजस्य का सिद्धान्त निकालकर दोनों पुत्रियों को एक साथ समझाते हुए कहा— “यदि वर्षा हो गई तो खेती में अनाज होगा जिससे आधा अपनी छोटी बहन को दे देना और यदि वर्षा नहीं हुई तो घड़े अच्छे पकेंगे जिससे आमदनी का आधा हिस्सा छोटी बहन बड़ी को दे देगी और इस प्रकार दोनों का काम चल जायेगा ।”

आंतरिक तड़प जागे

समाज में इस प्रकार के अनेक विरोधी हित होते हैं । दुकानदार और ग्राहक , जनता और कर्मचारी, छात्र और अध्यापक, मालिक और मजदूर आदि ये विरोधी हित हैं । यदि सत्य के निकट पहुंच जाएं तो विरोधी हितों में भी सामंजस्य हो सकता है । यदि आज समाज में नये मूल्यों का सामंजस्य किया जा सके तो समस्याओं का समाधान किया जा सकता है ।

मनुष्य में यदि सत्य की जिज्ञासा और निष्ठा नहीं है तो वह अच्छा नहीं बन सकता । प्रगति और विकास का द्वार बन्द ही रहेगा । इसलिये सबसे पहले सत्य को पहचानें और फिर उसे स्वीकार करें । मन के आवरणों को हटाकर— मैला, कूड़ा-ककट निकालकर स्वच्छता स्वीकार करें और दृष्टि साफ कर ज्ञान को परिष्कृत करें । ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्विति तभी होगी जब हम दृष्टि साफ रखेंगे । इसके लिये सत्य की प्रबल जिज्ञासा होनी चाहिए । आन्तरिक तड़प हो ठीक वैसी ही जैसी मछली को जल की तड़प होती है । इस तड़प और जिज्ञासा के बिना मनुष्य जहां का तहां रहेगा ।

अनुभूति की वेदी पर संयम का प्रतिष्ठान

एक शरीर है और इन्द्रियां पांच हैं। इनके अतिरिक्त एक मन भी है जो हमारी इन्द्रियों को संचालित करता है। ये छह सम्पर्क-सूत्र हमें बाह्य जगत् से जोड़े हुए हैं। यदि ये सम्पर्क-सूत्र नहीं होते तो न कोई देखने वाला होता और न कुछ दृश्य, न कोई सूंघने वाला होता और न कोई घ्राण। इन्द्रियों और मन के अभाव में बाह्य से सम्पर्क नहीं रहता और सब अपने आप में होते। इन्द्रियों और मन ने ऐसा धागा प्रस्तुत किया कि आदमी जुड़ गया। सूई धागे को लेकर चलती है और दो टुकड़ों को जोड़ती है। इन्द्रियां भी सूई का काम करती हैं। आज अकेला जैसा कुछ भी नहीं है। जहां दो होते हैं वहां भय प्रारम्भ हो जाता है किन्तु कठिनाई यह है कि एकाकीपन में मन नहीं लगता। उपनिषद् में कहा— “स एकाकी नैव रेमे।” भगवान का भी अकेले मन नहीं लगा इसलिए “एकोऽहम् बहुसाम्” की भावना से सृष्टि-रचना की गई। इसलिए जहां दो हैं, वहां संयम की आवश्यकता है।

इन्द्रियों का स्वभाव

संयम से सुरक्षा होती है। स्वयं अपनी सुरक्षा और सामाजिक सुरक्षा—दोनों ही इससे प्राप्त होती हैं। जहां व्यक्ति दूसरों के साथ अपना उचित सामंजस्य नहीं बना पाता, वहां व्यक्ति का व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। इन्द्रियों का स्वभाव है, संयम से विमुख जाना और हमारा लक्ष्य है, संयम की ओर अग्रसर होना। आज मनुष्य की वाणी में संयम नहीं, स्वाद का संयम नहीं, दृष्टि का संयम नहीं और श्रवण आदि का भी संयम नहीं। ऐसे भोजनभट्ट आपको मिलेंगे, जो जीने के लिए नहीं खाते, केवल खाने के जीते हैं। शास्त्रों में कहा है—

“आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं, स्यादाहारः प्राणसंधारणाय।

प्राणा धार्याः तत्त्व जिज्ञासनाय, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात् ॥”

—‘आहार के लिए भी वही कर्म करना चाहिए जो निन्दनीय नहीं हो। आहार भी प्राणों को धारण करने के लिए ही किया जाना चाहिए। परन्तु आज के विपरीत देखने में आता है।

एक चौबेजी के पुत्र ने अपने पिता से कहा— ‘पिताजी ! आज तो बड़ी दुविधा

में फंस गया हूँ।' पिता ने पूछा— 'ऐसी क्या बात है ? क्या आज कहीं से भोजन का निमंत्रण नहीं मिला ?' पुत्र ने खेदभरे स्वर में कहा— 'भोजन का निमंत्रण मिला था और मैं अभी-अभी भोजन करके आया हूँ किन्तु फिर दूसरी जगह से निमंत्रण आ गया है और पेट में जगह ही नहीं है, पेट फट रहा है ।'

पिता ने फटकारते हुए कहा— 'मूर्ख ! प्राण बार-बार मिलेंगे किन्तु भोजन का निमंत्रण नहीं ।'

आप अपने जीवन में देखें । हम तृप्ति के लिए सब कुछ कर रहे हैं । यथार्थता के लिए नहीं । इन्द्रियां तृप्ति चाहती हैं और कर्तव्य संयम । इन दोनों में सामंजस्य कैसे हो ? लक्ष्य को निर्धारित करने से ही विसंगति मिट सकती है । व्यक्ति को आकर्षण-केन्द्र बदलना होगा और जिस दिन यह बदलेगा उसी दिन इन्द्रियों और कर्तव्य में सामंजस्य होगा ।

आकर्षण का केन्द्र

इन्द्रियों का आकर्षण बाह्य जगत् की ओर है । मैं आपको देखता हूँ किन्तु स्वयं को नहीं देख पाता । मैं दुनिया का कोलाहल सुनता हूँ किन्तु अपने अन्तर के स्वर को सुन नहीं पाता । यदि मेरा आकर्षण अन्तर-जगत् की ओर होता तो संयम की समस्या नहीं होती । मेरा घर मेरे लिए आकर्षण का केन्द्र नहीं है, दूसरों के घर में आकर्षण लगता है । अपनी थाली का भोजन पसन्द नहीं, दूसरे की थाली में जो है वह प्रिय लगता है । दूसरों को अच्छा मानते हैं, स्वयं को नहीं जानते । इसलिए संयम की कठिनाई है । भगवान् महावीर की वाणी में कहते हैं— 'आय तुले पयासु' । वेदों का स्वर गाते हैं— 'एक ब्रह्म द्वितीयो नास्ति ।' किन्तु जैन और वेदान्ती दोनों ही अपनी-अपनी दूकान पर यह वाक्य भूल जाते हैं ।

सुनने की बात : करने की बात

एक ब्रह्मवादी अपने पुत्र के साथ प्रवचन में गया । पुत्र ने प्रवचन में सुना कि आत्मा सबकी एक है और ब्रह्म की ही माया है, कहीं भेद नहीं है । प्रवचन के बाद पुत्र अपनी दूकान पर आया । अनाज के ढेर से गाय अनाज चर रही थी । उसने 'एकं ब्रह्म' के अनुसार गाय को नहीं हटाया; क्योंकि वह समझ गया था कि सब ब्रह्म की माया है । पिता ने गाय को अनाज चरते देखा तो क्रोधित होकर पुत्र को डांटने लगा । पुत्र ने प्रवचन की बात दोहराई । पिता ने डांटते हुए कहा— 'वह केवल सुनने की बात थी, करने की नहीं । प्रवचन की बात दुकान पर नहीं चल सकती ।'

यह क्यों होता है ? हमें इसके कारण पर विचार करना चाहिए । इसका कारण है, अनुभूति की तीव्रता का अभाव । हम सुनते हैं किन्तु अनुभूति में तीव्रता नहीं आती इसलिए सुनना कार्यकर नहीं होता ।

अनुभूति की तीव्रता के हेतु

अनुभूति की तीव्रता के तीन कारण हैं— शब्द, अनुमान और प्रत्यक्षीकरण ।

शब्द से जानकारी होती है, वस्तु का ज्ञान होता है किन्तु शाब्दिक ज्ञान में अनुभूति नहीं होती, केवल ज्ञान होता है । शास्त्रों से जो सुनते हैं, वह शाब्दिक ज्ञान होता है, अनुभूति नहीं होती । इसलिए हजारों वर्षों से शास्त्र सुनकर भी तदनु रूप क्रिया नहीं होती । ज्ञान और अनुभूति दो चीजें हैं । चीनी को खाने के पहले उसका ज्ञान हो सकता है किन्तु खाने बिना अनुभूति नहीं होती है ।

दूसरा अनुमान है । धुआं देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है । शाब्दिक ज्ञान के साथ अनुमान जोड़ने से थोड़ी अनुभूति होती है, किन्तु अनुभूति की तीव्रता इसमें भी नहीं आ पाती ।

अनुभूति की पूरी तीव्रता प्रत्यक्षीकरण में होती है । संयम के प्रति तीव्र अनुभूति नहीं है, क्योंकि उसका प्रत्यक्षीकरण नहीं है, केवल शाब्दिक और आनुमानिक ज्ञान है । अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि अच्छा है । यह कैसे जाना ? आप कहेंगे कि शास्त्रों में लिखा है, महापुरुषों और भगवान् ने कहा है । यह केवल शास्त्रों में लिखा है । जीवन में अनुभव नहीं किया है । केवल पढ़कर या सुनकर आप भी उसे वैसा कह देते हैं ।

जीवन की विसंगति

एक व्यक्ति ससुराल से अपने घर आया आते ही आंगन में बैठकर रोने लगा । लोगों ने रोने का कारण पूछा तो जोर-जोर से रोते हुए कहा— 'मेरी स्त्री विधवा हो गई ? उसने कहा—'मेरी ससुराल वालों ने कहा है, वे क्या झूठ बोलते हैं ?'

आज स्थिति कुछ ऐसी ही है । दूसरों के माध्यम से किसी बात को स्थापित करना चाहते हैं, स्वयं के अनुभव से नहीं बता पाते । जीवन की कितनी विसंगति है ? संयम से तृप्ति मिलती है । विकास होता है, ऐसा प्रत्यक्षीकरण का प्रमाण देने वाले कितने मिलते हैं ?

बहुत हैं भारवाही

अणुव्रत की चर्चा इस संदर्भ में करें । यदि त्याग की भावना से स्वर्ग-नरक को जोड़कर अणुव्रत को देखेंगे तो कम प्राप्त कर सकेंगे । अणुव्रत धर्म क्रांति का स्वर है किन्तु धर्म के साथ स्वयं की अनुभूति नहीं जोड़ेंगे तो धर्म के ऋणी बन सकते हैं परन्तु लाभ नहीं उठा सकेंगे । विचारों, धारणाओं और संस्कारों का आदमी भार ढोता है । किन्तु जीवन में उन्हें मूर्तरूप देने का, व्यवहार में उतारने का मौका नहीं देता । जीवन में भारवाही बहुत बनते हैं किन्तु रस उठाने वाले नहीं होते हैं ।

लखपति, करोड़पति व्यक्तियों को देखता हूँ और उनको कई बार कहता हूँ कि तुम सबसे बड़े नौकर हो । दिनभर पैसे की नौकरी निभाना तुम्हारा काम है, अन्य कुछ

भी नहीं। आप भी अपने जीवन पर विचार करें, आत्म-निरीक्षण करें। अतीत का सिंहावलोकन करके देखें। व्रत के प्रति दृष्टिकोण बनना चाहिए था वह नहीं बन पाया है, अणुव्रत के प्रति जो निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए थी वह नहीं हो रही है। क्योंकि लोगों ने सोच लिया है कि त्याग और बलिदान के बिना ही कोई सस्ता लाभ मिल जाए। पूजा-पाठ पंडितजी कर दें और लाभ सेठजी को मिल जाए। आज तो विज्ञान के युग में व्यक्ति खाने और पचाने से भी बचना चाहता है।

हमें अपनी अनुभूति तीव्र बनानी चाहिए अन्यथा संयम के प्रति आकर्षण नहीं होगा। जब तक संयम के प्रति आकर्षण नहीं होगा तब तक दूसरी ओर आकर्षण रहेगा। सिनेमा देखने का उपदेश नहीं दिया जाता, फिर भी लोग उधर भागते हैं। रोटी खाने का उपदेश किसी को नहीं दिया जाता, फिर भी प्रत्येक मनुष्य खाता है क्योंकि उसकी प्रत्यक्ष तीव्र अनुभूति होती है। इसी प्रकार धर्म, संयम और व्रत की तीव्र अनुभूति हो जाए तो उपदेश की जरूरत नहीं।

विकल्प और लाभानुभूति

विकल्प और लाभानुभूति दो ऐसी बातें हैं जिनसे जनता आकृष्ट होती है। धर्म एवं संयम से क्या लाभ होता है, यह अनुभूति करा दी जाए एवं असंयम के विपरीत संयम का विकल्प दिया जाए तो सहज ही आकर्षण बढ़ेगा। आजकल ध्यान का अभ्यास लाभ के साथ जोड़ा जाता है। कहा जाता है कि ध्यान से व्यापार में ज्यादा सफलता मिलती है और फिर व्यापारी वर्ग ध्यान की ओर मुड़ता है; क्योंकि उसमें उसे लाभ मिलने की सम्भावना है। संयम के साथ भी लाभ जुड़ा है। सच्चा, प्रामाणिक एवं ईमानदार रहकर काम करने वाले को अनेक प्रकार का लाभ होता है किन्तु इसकी तीव्र अनुभूति करानी और करनी होगी। इसके लिए जीवन के आकर्षण को बदलें। अनुभूति की तीव्रता होगी, संयम का आकर्षण होगा तो फिर उपदेश की जरूरत ही नहीं रहेगी।

पूँजीवाद और अणुव्रत

पूँजी साथ जब से वाद जुड़ा है तब से विकृतियां आयी हैं। वैसे पूँजी दुनिया की सबसे बड़ी शक्तियों में से एक है। जीवन व्यवहार में कुछ ऐसी शक्तियां होती हैं, जिनके आधार पर व्यक्ति जीता है। जीवन में उन शक्तियों की नितान्त आवश्यकता होती है। शक्तिहीन को दुनिया में कोई भी नहीं चाहता, उसे आदर नहीं मिलता। आग जलती है तो उस पर सबका ध्यान रहता है लेकिन बुझी आग पर छोटा बालक भी पैर रखकर निकल जाता है। जलती आग में तेज है इसलिए उसके प्रति आदर है किन्तु राख के प्रति नहीं। इसलिए महाभारत में विपुला ने अपने पुत्र से कहा— “पुत्र ! तुम प्रज्वलित अग्नि की तरह तेज बनकर भले एक मुहूर्त के लिए जीओ, यह अच्छा है किन्तु धुआं बनकर चिरकाल तक जीना अच्छा नहीं।”

आकर्षण पर टिका है संसार

जहां शक्ति है वहां आकर्षण है, वहीं झुकाव होता है। यह सारा संसार आकर्षण के कारण ही टिके हुए हैं अन्यथा उथल-पुथल और प्रलय मच जाता। धन दुनिया की बड़ी शक्ति है, इससे जीवन की व्यवस्था बनती है, अन्यथा गड़बड़ा जाती है। भूख लगने पर रोटी चाहिए, दूध-फल आदि की आवश्यकता है। वस्त्र, मकान आदि की जरूरत है और इन सबका क्रय विक्रय पैसे के आधार पर होता है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं कि पूँजी और धन इन सब वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आवश्यक होता है। इसीलिए संस्कृत कवियों ने ‘सर्वेगुणा कांचनमाश्रयन्ति’ तक कह दिया। जिसने पूँजी को ठुकराया और त्यागा, वह भी पैसों के आकर्षण में आ जाता है। पूँजी और अर्थ का महत्व मानना ही होगा।

आज पूँजीवाद शब्द विकृत हो गया है। पूँजीवाद से बोध होने लगा पिछड़ेपन का। पूँजीवाद खून चूसने और शोषण करने का प्रतीक बन गया। पूँजी बुरी नहीं, वाद बुरा है। इसी वाद से बुराई होती है। पूँजीवाद भी शब्दों के जाल तरह विकृत बना है।

बीत गया निधान का युग

अणुव्रत अर्थात् संयमन। सब चीजों के साथ साथ पूँजी और पैसों का भी संयमन

करें। प्रश्न होगा कि यदि पैसा शक्ति है तो फिर संयमन क्यों? एक व्यापारी पूँजी के संयमन की कभी नहीं सोचता है। दिल्ली में एक उद्योगपति से मैंने पूछा कि चलीसों फैक्टरियां होते हुए भी नए-नए कारखाने क्यों खोल रहे हैं? उन्होंने कहा कि एक फैक्टरी के लिए दूसरी पूरक फैक्टरी खोलनी ही पड़ती है। आज अर्थ को गाड़कर रखने का युग नहीं, निधान का युग बीत गया। पैसों को घूमते रहना चाहिए। दिल्ली में पूज्य गुरुदेव के दर्शनार्थ आए एक जर्मन अर्थशास्त्री ने कहा— अर्थ को घुमाते रहना चाहिए। उसे निकम्मा नहीं रखना चाहिए।

अर्थशास्त्र की नीति

आज के अर्थशास्त्र की नीति है— परिवर्तन और पूँजी का संक्रमण। इससे पूँजी का विकास होगा। संग्रह के विकास पर भी नया शास्त्र आ गया है। मार्क्स ने समाजवाद पर बल देते हुए जब कहा कि पूँजी का एकत्रीकरण नहीं करना चाहिए तब वह नया लगा लेकिन दार्शनिक दृष्टि से यह पुराना विचार है। यह दुनिया किसी एक व्यक्ति की दुनिया नहीं, इस दुनिया में किसी एक को ही जीने और सुख से रहने का अधिकार नहीं है। आज कर्म के बारे में पुरानी विचारधाराओं को नहीं माना जा सकता। केवल भाग्य से ही दुःख और सुख की बात प्रमाणित नहीं हो सकेगी। जिन्होंने पुरुषार्थ और कर्तृत्व पर भरोसा किया, उन्होंने अपने भाग्य को बदल डाला।

बदला है युग

एक युग था जब राजाओं को ईश्वर का अवतार माना जाता था। ईश्वर के अवतार की बात पुरानी पड़ गई। अब यहां कोई राजा ईश्वर का अवतार नहीं। कोई भी साधारण व्यक्ति जन्म लेता है और अपने पुरुषार्थ से, अपने कर्तृत्व से राजा से भी बड़ा आज के युग का राष्ट्रपति बन जाता है। पुराने राजा से आधुनिक राष्ट्रपति अथवा प्रधानमंत्री का अधिकार बहुत अधिक है।

आज स्थिति में अन्तर आ गया है। कर्मवाद के सिद्धान्त में अन्तर नहीं आया है, बल्कि त्रुटिपूर्ण धारणाओं में सुधार करने का मौका मिला है। पुराने जमाने में स्त्रियों को शिक्षण नहीं देने की बात कही जाती थी, लेकिन आधुनिक युग में वह स्थिति बदल गई है।

बुराई की जड़ है परिग्रह

पूँजी सामाजिक तत्व है। अमुक-अमुक व्यक्ति उस पर का अधिकार नहीं है। चिन्तन की यह देन भगवान् महावीर की है। संत विनोबा ने भी कहा है— “बुराइयों के दो कारण हैं— आरम्भ और परिग्रह। क्रूरता परिग्रह से पनपती है। धार्मिक माने जानेवाले के क्रूर कार्यों को देखकर उन्हें धार्मिक कहना जंचता नहीं। मनुष्य अज्ञानी नहीं

है। वह भेड़िया और जंगली पशु भी नहीं है, जो भूखा होकर किसी पर झपट पड़े। फिर वह ऐसा क्यों करता है? वह परिग्रह के कारण झपटता है। जिसके हाथ में परिग्रह है, वह सब कुछ कर सकता है— यह विचार इतना बढ़ा कि उसने मनुष्य में मतिभ्रम पैदा कर दिया है। उनकी सारी आस्था इस विचार के कारण हट जाती है। इसलिए क्राइस्ट ने कहा— 'ऊँट का सूई की नोक से निकलना सम्भव है किन्तु धनी व्यक्ति का स्वर्ग में प्रवेश असम्भव है।'

व्रत का चिन्तन

महावीर, कृष्ण, बुद्ध, ईसा किसी का भी हो, यह विचार सही था कि परिग्रह के प्रति आसक्ति नहीं हो। यह था व्रत का चिन्तन। परिग्रह रखने का अधिकार किसी को नहीं है, यह आज के अधिकार की भाषा है। जहां राजनीति है वहां अधिकार की भाषा होगी। अपरिग्रह की बात पाप और धर्म की भाषा में कही गई थी। यदि वह पुरानी बन गई तो उसे युगानुकूल रखना होगा। अध्यात्म ने कहा कि परिग्रह और संग्रह नहीं करें। उसने जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओं पर रोक नहीं लगाई। यदि जीवन की आवश्यकताओं पर रोक लगाई जाती तो हिन्दुस्तान भिखारियों का देश होता; यद्यपि कुछ लोगों ने धर्म के नाम पर भिखारीपन को बढ़ावा दिया है, भिखारी बढ़ाये हैं।

जिसके पास दो हाथ और दस अंगुलियां हैं, उसे किसी अन्य से कुछ नहीं चाहिए। सब रचनाएं इन दस अंगुलियों से ही टपकती हैं। चित्र, काव्य, निर्माण और बीज सब इन दो हाथों की दस अंगुलियों की ही बात हैं। यह पुरुषार्थ का सिद्धान्त था, जिसके आधार पर यह सिद्धान्त आया— जो पुरुषार्थ करो उसमें दूसरों का हिस्सा मत लो। यह अचौर्य की परिभाषा है। दूसरों की चीज़ उठाना ही चोरी नहीं है बल्कि भागवत में कहा है— 'जितने से व्यक्ति का पेट भरता है उतना ही उसका स्वत्व है। उतने का ही वह अधिकारी है। अधिक संग्रह करने वाला चोर है और वह दण्ड का भागी है।'

शायद इतना कठोर आदेश मार्क्स और लेनिन ने भी नहीं दिया।

प्राकृतिक चिकित्सा है अणुव्रत

दूसरों को प्राप्त होने वाले तत्त्व से रोक देने की प्रवृत्ति ठीक नहीं। तुंगभद्रा को बांधना ठीक हो सकता है लेकिन यदि नहरें नहीं निकाली जाएं तो वह प्रलय मचा सकता है। धन की प्रक्रिया क्या इससे भिन्न हो सकती है? विसर्जन की प्रणाली से रहित संग्रह क्या खतरनाक नहीं होता? पूंजीवाद के संशोधन के प्रयास हो रहे हैं लेकिन गुत्थी सुलझी नहीं है। आर्थिक कठिनाइयों से मनुष्य यन्त्र बन गया। होना यह चाहिए कि संग्रह भी न हो और मनुष्य का स्वतन्त्र अस्तित्व भी रहे, उसकी इकाई बनी रहे। इस बिन्दु पर अणुव्रत की उपयोगिता सामने आती है। हृदय-परिवर्तन के द्वारा जो संग्रह की समस्या सुलझेगी वह दोष से मुक्त होगी। यह अणुव्रत एलोपैथिक चिकित्सा नहीं है, जो रोग

को दबा दे। अणुव्रत प्राकृतिक चिकित्सा है, जहां दोष दबाये नहीं जाते, नष्ट किये जाते हैं।

हृदय शुद्धि की प्रक्रिया

व्रत व्यक्ति के हृदय शुद्धि की प्रक्रिया है। व्यवस्था और हृदय परिवर्तन दोनों का योग होना चाहिए। समाजवाद में व्यवस्था है किन्तु अध्यात्म और हृदय-परिवर्तन नहीं रहने के कारण वहां अधिनायकवाद पनपता है। व्रत के साथ हृदय परिवर्तन है किन्तु वहां व्यवस्था की ओर ध्यान न दिए जाने के कारण जीवन पद्धित और व्रत में तालमेल नहीं बैठता। व्रत और व्यवस्था दोनों का सामंजस्य होगा तभी नया परिणाम आयेगा। व्यवस्था का सुधार हो और व्रत का जीवन में प्रयोग। व्रत की भावना विकसित हो। सरकार व्यवस्था में परिवर्तन करे। रूपक की भाषा में कहना चाहूंगा कि जिस दिन ऋषि और राजनीतिज्ञ का समन्वय होगा तभी यह समस्या सुलझेगी। अध्यात्म और राजनीति दोनों विपरीत दिशाओं में न चलकर समानान्तर रेखा पर चलेंगे, तब समाधान के निकट जायेंगे। अध्यात्म और व्यवस्था का योग होने से पूँजीवाद के दोष समाप्त होंगे, पूँजीवाद की शुद्ध शक्ति सामने आएगी और विकृति मिट जायेगी। तब फिर वर्गों का तनाव, संघर्ष और परस्पर काटने की बात नहीं होगी। भय नहीं होगा, तनाव नहीं होगा क्योंकि वहां संविभागी व्यवस्था होगी।

सभ्यता और शिष्टाचार

सभ्यता और शिष्टता, ये दोनों सामाजिक जीवन के अलंकरण हैं। हर सामाजिक मनुष्य सभ्य और शिष्ट होना चाहता है। किन्तु सभ्य और शिष्ट वही बन सकता है जो अपनी ऊर्मियों (आवेगों) पर नियंत्रण रख सकता है। मनुष्य में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अनेक ऊर्मियाँ होती हैं। ये एक सीमा तक सामाजिक जीवन में खप जाती हैं। किन्तु सीमा का अतिक्रमण होने पर ये भयंकर बन जाती हैं।

शांति का सूत्र

पारिवारिक जीवन में शांति बनाये रखने का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है क्रोध की मात्रा को कम करना। क्रोध से अपना व्यक्तिगत तथा पारिवारिक जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। क्रोधी आदमी का हर जगह से बहिष्कार किया जाता है।

हम चांडाल से घृणा करते हैं। यह हमारा अज्ञान है। क्रोधी मनुष्य घृणा का पात्र नहीं होता। हर आदमी में वही महान् आत्मा छिपी हुई है, जो हम में है। हम कुछ बाहरी निमित्तों से बंटे हुए हैं, फिर भी मौलिक रूप में एक ही विशाल परिवार के सदस्य हैं।

जिस चांडाल से घृणा की जा सकती है, वह है क्रोध। क्या ऐसा कोई आदमी है जिसके घट में क्रोध उफन रहा है और वह चांडाल नहीं है ?

क्रोध है चांडाल

एक व्यक्ति नदी से स्नान कर आ रहा था। मार्ग में वह चंडालिन से धू गया। वह एक ही क्षण में क्रोध से भर गया। उसकी आंखें लाल हो गईं। वह चंडालिन पर बरस पड़ा। चंडालिन कुछ देर सुनती रही। फिर भी उसका क्रोध शांत नहीं हुआ। लोग इकट्ठे हो गए। चंडालिन ने निकट आ उसका हाथ पकड़ लिया। लोगों ने कहा—‘तुम ऐसा क्यों करती हो?’ वह बोली—‘यह मेरा पति है, मैं इसे अपने घर ले जाना चाहती हूँ।’ उसका क्रोध और बढ़ गया। उसने हाथ छुड़ाना चाहा पर चंडालिन ने छोड़ा नहीं। आखिर पुलिस आयी। दोनों को पकड़ कर न्यायाधीश के सामने प्रस्तुत किया।

उस आदमी का क्रोध अब शान्त हुआ। उसे अपने किए पर अनुताप हुआ। न्यायाधीश ने पूछा—‘तुम किसलिए लड़े?’

चंडालिन बोली—‘मैं अपने पति को अपने घर ले जाना चाहती थी और ये चल नहीं रहे थे, इसलिए लड़ाई हो गई ।’

‘तुम अपने घर क्यों नहीं जा रहे ?’ न्यायाधीश ने पूछा ।

वह बोली—‘महाशय ! मैं इसका पति नहीं हूँ, तब इसके घर कैसे जाऊँ ?’

न्यायाधीश—‘क्या यह तुम्हारा पति है ?’

चंडालिन—‘पहले था, अब नहीं है ।’

न्यायाधीश—‘पहले था, अब नहीं है—इसका अर्थ ?’

चंडालिन—‘जब तक इसके घट में चंडाल था तब तक यह मेरा पति था । अब इसके घट से चंडाल निकल गया है, इसलिए अब यह मेरा पति नहीं है ।’

क्रोध की विफलता के सूत्र

जो क्रोध नहीं करता, वह महान् होता ही है किन्तु वह भी महान् होता है, जो क्रोध को विफल कर सकता है ।

क्रोध की विफलता के चार सूत्र हैं:

१. जहां क्रोध आए वहां से उठकर एकान्त में चले जाना ।
२. मौन हो जाना ।
३. किसी काम में लग जाना ।
४. एक-दो क्षण के लिए श्वास को रोक देना ।

प्रदर्शन की बीमारी

जो अपने पास है। उसे दूसरों को दिखाना सामाजिक जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए सामाजिक संगम-स्थल एक प्रकार से प्रदर्शन स्थल होते हैं। वे प्रदर्शन अक्षम्य हो जाते हैं। जो घर की होली जलाकर किये जाते हैं।

एक गरीब स्त्री किसी सेठ के घर गई, सेठानी ने चूड़ा पहना था। वह हाथीदांत से बना हुआ और बहुत बढ़िया था। आसपास की स्त्रियां उसे देखने के लिए आ रही थीं और उसे देख सेठानी को बधाइयां दे रही थीं। उस गरीब स्त्री ने यह सब देखा। उसके मन में आया कि मैं भी हाथीदांत का चूड़ा पहनूं और पड़ोसियों की बधाइयां प्राप्त करूं। वह घर गई। अपने पति से कहा—‘मुझे हाथीदांत का चूड़ा ला दो।’ पति ने कहा—‘रोटी बड़ी कठिनाई से मिलती है और तुम्हें चूड़ा चाहिए। यह नहीं होगा।’ उसने कहा—‘यह होगा। चूड़ा लाए बिना घर में चूल्हा नहीं जलेगा।’ पति ने बहुत समझाया पर उसने एक भी बात नहीं सुनी। आखिर पति ने हार मान ली। बेचारा बाज़ार में गया। एक सेठ से कर्ज लेकर चूड़ा लाया। उसने बड़ी प्रसन्नता से चूड़ा पहना। वह झोंपड़ी के द्वार पर आकर पीढ़े पर बैठ गई। हाथों को सामने लटका दिया। बहुत देर बैठी रही, पर उसे देखने के लिये कोई भी नहीं आया। एक दिन उसका वैसा ही बीत गया। दूसरे दिन उसने फिर वैसा ही किया पर उस दिन भी कोई नहीं आया। उसके मन में प्रदर्शन की आग भभक उठी। उसने हाथ में दियासलाई ली और झोंपड़ी को सुलगा दिया। देखते-देखते आग की लपटें आकाश को छूनें लगीं। चारों ओर से लोग दौड़े। लोगों ने आग पर काबू पा लिया पर झोंपड़ी जल कर राख हो गई। लोगों ने बड़ी सहानुभूति दिखाई। सबने कहा—‘बेचारी आगे ही गरीब है और फिर कैसा वज्रपात हुआ कि जो कुछ था वह सब स्वाहा हो गया।’ लोग संवेदना प्रकट कर रहे थे और उस स्त्री के मन में प्रदर्शन की आग सुलग रही थी। लोगों ने पूछा—‘बहन! तुम्हारे कुछ बचा कि नहीं?’ वह बोली—‘और कुछ नहीं बचा, केवल यह चूड़ा बचा है।’ लोगों ने पूछा—‘अरे, यह कब पहन लिया?’ वह बोली—‘यदि यह बात तुम पहले पूछ लेते तो मेरी झोंपड़ी क्यों जलती?’ लोग उसकी मूर्खता पर हँसे और उनकी सहानुभूति आक्रोश में बदल गई।

इस दुनिया में चूड़ा दिखाने के लिए झोंपड़ी फूंकनेवालों की कमी नहीं है। क्या सामाजिक बुराइयों के पीछे इस प्रदर्शन की भावना का बहुत बड़ा हाथ नहीं है ?

मानव मन की ग्रन्थियां

कोई भी भौगोलिक राज्य उतना बड़ा नहीं है, जितना मनोराज्य है। कोई भी यान उतना द्रुतगामी नहीं है, जितना मनोयान है। कोई भी शस्त्र उतना संहारक नहीं है, जितना मनःशास्त्र है। कोई भी शास्त्र उतना तारक नहीं है, जितना मनःशास्त्र है। उसकी ग्रन्थियों को खोल फैलाया जाए तो पाँचों महाद्वीपों में नहीं समा पातीं। इस छोटे से शरीर में इन असंख्य ग्रन्थियों की संहति बहुत ही आश्चर्यजनक है। वे मुकुलित रहती हैं। सामग्री का योग मिलने पर उनके तार खुल जाते हैं। सामग्री का हमारे जीवन में बहुत बड़ा स्थान है। आत्मा की प्रत्येक प्रवृत्ति उससे प्रभावित है। समुदाय भी एक सामग्री है। इसके योग में मन की अनेक ग्रन्थियां संकुचित होती हैं तो अनेक विस्तार पाती हैं। मन विशाल होता है। समुदाय असत्य नहीं होता, विघ्न नहीं बनता। मन छोटा होता है, समुदाय बाधक बन जाता है। परिवार में दो आदमी बढ़ते हैं तो पृथक्करण की प्रवृत्ति जाग जाती है। कुछ व्यक्तियों को पृथक्करण नहीं भाता, भले फिर दस व्यक्ति बढ़ जाएं। ये दोनों मन की संकुचित और विकुचित ग्रन्थियों के ही कार्य हैं।

उष्ण और शीत ग्रंथि

जहां दस आदमी रहते हैं, वहां अवांछनीय भी कुछ हो जाता है। एक व्यक्ति उसे देख तत्काल उबल पड़ता है और दूसरा उसका परिमार्जन करता है। ये दोनों मन की उष्ण और शीत ग्रन्थियों के ही परिणाम हैं।

अणु-बमों के परीक्षण हो रहे हैं। पर वे संहारक कम हैं। इस महाशून्य में अनन्त-अनन्त विषैले परमाणु भरे पड़े हैं। वे कभी विस्फोट नहीं करते। संहारक होते हैं दो-चार व्यक्ति। जब उनके मन की ग्रन्थियां अणु की शंका से घुलती हैं तभी बमों का विस्फोट होता है।

विग्रह क्या है ?

हमें तारने वाला दूसरा कौन है ? हमारा मन जब अन्तर की ओर झांकता है, तब हम तर जाते हैं। विग्रह और क्या है ? बाहर झांकने के सिवा और कोई विग्रह नहीं है। परिवार में जो कलह होती है, वह इसीलिए होती है कि पारिवारिक सदस्य अपनी अपेक्षा दूसरों को अधिक देखता है। अपने को भी देखता है पर उस आंख से नहीं देखता

जिससे दूसरों को देखता है। अपना काम दीखता है, दूसरों का आराम। अपनी विशेषता दीखती है, दूसरों की कमी। उस आराम में से ईर्ष्या उपजती है और कमी से अहं। मन की गांठ घुल जाती है। कलह का बीज अंकुरित हो जाता है।

धर्म का पहला सोपान

मन की अन्तर-मुखता केवल धर्म ही नहीं है, व्यवहार का दर्शन भी है। ग्रन्थिभेद धर्म का पहला सोपान है। उसके बिना सम्यग्-दर्शन नहीं होता। राग द्वेष इन दो शब्दों में मन की अनन्त ग्रन्थियां समाविष्ट होती हैं। रागात्मक प्रवृत्ति से व्यक्ति एक में अनुरक्त होता है। द्वेषात्मक प्रवृत्ति से वह दूसरे से दूर होता है। इस परिधि में तटस्थता टूट जाती है। उसके बिना पारिवारिक जीवन कठिन हो जाता है।

सामुदायिकता जीवन की बहुत बड़ी कला है। समुदाय में रहना बहुत बड़ी बात नहीं है। उसमें शान्ति, सामंजस्य और प्रसन्नतापूर्वक रहना सचमुच बहुत बड़ी बात है और बहुत बड़ी कला है। इसकी साधना के लिए मन की कुछ ग्रन्थियों को खोलना पड़ता है और कुछेक को भारहीन करना पड़ता है। यह भारहीनता, जिसे हमारे धर्मग्रन्थों ने लाघव कहा है, सामुदायिकता का बहुत बड़ा मर्म है।

विस्मृति का वरदान

मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ, वही कह रहा हूँ, जिसका जीवन में अनेक बार अनुभव होता है। जिन लोगों ने स्मृति का अभिशाप भोगा है, वे बड़ी तीव्रता से अनुभव करते हैं कि विस्मृति वरदान है किन्तु बहुत दुर्लभ। स्मृति के वरदान से भी अधिक दुर्लभ।

स्मृति किसकी

१. स्मृति उसकी होती है, जो अतीत में अनुभूत हो। जो हमने देखा, सुना, संवेदन किया, वह हमारी ज्ञानधारा में समाकर संस्कार का रूप ले लेता है। निमित्त बनकर वह उद्बुद्ध होता है और अतीत वर्तमान में प्रतिबिम्बित हो जाता है।

२. यह हमारे जीवन की ज्वलन्त समस्या है कि जिसकी स्मृति होनी चाहिए, उसकी विस्मृति हो जाती है और जिसकी विस्मृति होनी चाहिए, उसकी स्मृति होती रहती है।

३. उपकार की बात लोग भूल जाते हैं पर अपकार की बात नहीं भूलते। किसी मित्र के सामने आने पर सारी बातें याद नहीं भी आतीं पर शत्रु के सामने आते ही अतीत साकार हो उठता है।

वरदान भी, अभिशाप भी

भलाई के प्रति भलाई का हेतु भी स्मृति है और बुराई के प्रति बुराई का हेतु भी वही है। इसीलिए स्मृति वरदान भी है और अभिशाप भी। अकरणीय कार्य को भुलाकर हम बहुत बार ऐसी भूल कर बैठते हैं कि उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। अकरणीय को बार-बार याद करके भी हम अपने प्रति न्याय नहीं करते। इसीलिए विस्मृति अभिशाप भी है और वरदान भी।

स्मृति के अभिशाप से वही मुक्त हो सकता है, जिसे विस्मृति का वरदान प्राप्त हो। दुर्व्यसनों की स्मृति अभिशाप से भी लम्बी बनती है। प्रियजन की स्मृति ही असंख्य आत्महत्याओं का हेतु बनती है। साम्प्रदायिक एकता में सबसे बड़ी बाधा स्मृति ही तो है। स्मृति का सूत्र नहीं होता तो प्रतिशोध की बात ही नहीं होती।

सुखी जीवन का मंत्र

जो साथ रहते हैं, उनमें कलह भी हो जाता है। जिसे विस्मृति का वरदान प्राप्त है, वह उसे भुला देता है और सुख से जीता है। कुछ आदमी सुख से नहीं जी सकते। वे स्मृति के धागों में उलझकर दूसरों पर आग उगलते रहते हैं।

मैं जब-जब अपने सुखी जीवन की कल्पना करता हूँ, तब-तब भूलने का अभ्यास करता हूँ। उतना सब भूल जाना चाहता हूँ जितना सिर का भार है। बहुत याद रखना जरूरी नहीं। उतना ही काफी है, जितना जीवन-रथ को आगे ले जाए।

स्मृति ! तुम्हें मेरे जीवन-रथ को पीछे की ओर घसीटना चाहो तो तुम्हें मेरा दूर से ही प्रणाम है।

जीवन-विकास के सूत्र

समानता

मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। किन्तु 'मैं' पर जैसा मेरा अधिकार है, वैसा अस्तित्व पर नहीं है। मुझसे जो भिन्न है, उसका भी अस्तित्व है और वह उसे उतना ही प्रिय है। जितना कि मेरा अस्तित्व मुझे प्रिय है। बाहरी उपकरणों की दृष्टि से हम भिन्न भी हो सकते हैं किन्तु अस्तित्व की शृंखला में हम सब समान हैं।

शरीर, भाषा, भौगोलिक सीमाएं, सम्प्रदाय, जाति—ये सब समानता के समर्थक नहीं हैं किन्तु इनमें प्राण-संचार चैतन्य से होता है और उसके जगत् में हम सब समान हैं ; हमारे मन में असमानता के संस्कार अधिक तीव्र हैं। हमारी इन्द्रियां बाहर की ओर झांकती हैं और जो बाहर है, वह सब असमान है। असमानता के भाव से प्रेरित होकर हम अपने ही जैसे लोगों के साथ अन्याय करते हैं। हमारी न्याय-बुद्धि तभी जागृत हो सकती है, जब हम समानता की धारा को अविरल प्रवाहित करें। लोकतंत्र समानता की प्रयोग-भूमि है। समान अधिकार का सिद्धान्त दार्शनिक समानता का व्यावहारिक रूप है। लोकतंत्र की सफलता के लिए यह अपेक्षित है कि उसके नागरिकों में समानता के प्रति आस्था हो।

स्वतन्त्रता

कोई आदमी अन्याय करता है, इसका अर्थ है— वह दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है। कोई दूसरे के अधिकार का अपहरण करता है, इसका अर्थ है— वह उसे अपने तंत्र में रखना चाहता है। अपने तंत्र में रखने का अर्थ है उसे वह अपने-जैसा नहीं मानता।

बुद्धि और कर्मजा-शक्ति की विविधता होती है। बुद्धिमान् और समर्थ व्यक्ति मन्दबुद्धि और अक्षम व्यक्तियों को शासित करता है। यह सर्वथा अनुचित भी नहीं है। उनका हित-सम्पादन करने के लिए यदि वह ऐसा करता है, तो कोई तर्क नहीं कि उसे अनुपादेय कहा जाए। यदि वह अपना हित-साधन के लिए उन्हें शासित करता है तो वह सामनता की आधार-शिला को जर्जरित करता है। दूसरों की स्वतंत्रता में अमित विश्वास हो तो क्या कोई व्यक्ति अन्याय कर सकता है ? स्वतंत्रता लोकतंत्र की आत्मा

है। यदि उसे लोकतंत्र से अलग कर दिया जाए तो लोकतंत्र का अर्थ होगा निरंकुश राज्य। स्वतंत्रता में अमोघ आस्था रखने वाला आक्रान्ता कैसे होगा? चिनगारी जो है, वह कभी भी अग्नि का रूप ले सकती है।

प्रामाणिकता

दूसरों के प्रति सच्चा रहना प्रामाणिकता तो है किन्तु यह भाषा कभी भी मुझे आकृष्ट नहीं कर सकी। प्रामाणिकता की जो परिभाषा मुझे आकृष्ट कर सकी, वह है अपने प्रति सच्चा रहना। जो दूसरों का बुरा करने में अपना बुरा देखता है, वह बुराई से बच सकता है, पर-निरपेक्ष दृष्टि से प्रामाणिक रह सकता है। जिसकी सचाई का आधार व्यवहार की पृष्ठभूमि होता है, वह तब सच्चा रहता है, जब कोई दूसरा देखता है। वह तब सच्चा रहता है, जब प्रकाश में होता है। अकेले में और अंधेरे में जो सचाई प्राप्त होती है, वह अपने पर ही आधारित हो सकती है।

लोकतंत्र का सौन्दर्य

जो अपने प्रति सच्चा नहीं होता, वह राष्ट्र के प्रति कभी भी सच्चा नहीं होता।

कई आदमी राष्ट्र की भलाई के लिए सच्चे होते हैं और कई अपनी भलाई के लिए। सचाई का बीज हर मनुष्य में होता है।

वह निमित्त का निमित्त पाकर अंकुरित हो उठता है। जो अपनी आंतरिक प्रेरणा से अंकुरित होता है, वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता। बाहरी प्रेरणा से अंकुरित होने वाले के लिए यह निश्चित भाषा नहीं बनाई जा सकती कि वह परिस्थिति से प्रभावित नहीं होता, पर प्रामाणिकता लोकतंत्र का सौन्दर्य तो है ही, फिर चाहे वह किसी भी निमित्त से प्रस्फुटित हो।

स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन

कितना मधुर है यह स्वतन्त्रता शब्द । एक तोता पेड़ की टहनी पर बैठकर जिस खुशी से झूमता है, वह उसी खुशी से सोने के पिंजड़े में नहीं झूमता । पिंजड़ा आखिर पिंजड़ा ही है, भले ही वह लोहे का हो या सोने का । स्वतन्त्रता की मादकता का एक कण परतन्त्रता के सागर से अधिक मूल्यवान और प्राणदायी होता है । परन्तु आश्चर्य है कि स्वतन्त्रता के पचास वर्षों के बाद भी हिन्दुस्तान पूरी मादकता से नहीं झूम रहा है । ऐसा लगता है कि वह राजनीति की परतन्त्रता से मुक्त होकर भी मानसिक परतन्त्रता से मुक्त नहीं है । वाणी की स्वतन्त्रता उसे प्राप्त है, पर वाणी का संयम उसे प्राप्त नहीं है । लेखन की स्वतन्त्रता उसकी निर्बाध है पर लेखनी का संयम उसे ज्ञात नहीं है । उसके विचारों की अभिव्यक्ति पर कोई रोक नहीं लगा सकता पर उसे अपने-आप पर रोक लगाना भी पसन्द नहीं है । इस स्वतन्त्रता का अर्थ है मानसिक परतन्त्रता का उदय ।

जनतंत्र का मूल आधार है स्वतन्त्रता और उसका मूल आधार है व्यक्ति का आत्मानुशासन । जब कोई व्यक्ति अपने-आप पर अपना नियंत्रण रख सकता है, तभी वह स्वतन्त्रता की लौ प्रज्वलित कर सकता है । अधिनायकता के युग में भय और आतंक का राज्य होता है, इसलिए व्यक्ति के आत्मानुशासन का विशेष मूल्य नहीं होता । जनतंत्र के युग में अभय का राज्य होता है, इसलिए उसमें आत्मानुशासन का मूल्य बहुत बढ़ जाता है ।

प्रश्न है आत्मानुशासन का

हिन्दुस्तान दुनिया का सबसे बड़ा जनतंत्र है । उसके नागरिकों का आत्मानुशासन कैसा है, इस प्रश्न पर चाहे-अनचाहे दृष्टि जा टिकती है । इसका उत्तर जो मिलता है, वह सन्तोष नहीं देता । शासनतंत्र के प्रमुख लोगों में सर्वाधिक आत्मानुशासन होना चाहिए पर वह नहीं है । वे अपने पद का लाभ भी उठाते हैं । पक्षपात की भी उनमें कमी नहीं है । अपने कृपापात्रों के लिए वे कुबेर हैं तो अप्रियजनों के लिए अनुदार भी कम नहीं हैं । वे शासनतंत्र संभालते हैं जनता की भलाई के लिए और उनका संघर्ष चलता है सदा कुर्सी की सुरक्षा के लिए । आर्थिक घोटालों के अनेक आरोप उन पर लगाए जाते हैं और वे प्रमाणित भी हो जाते हैं ।

आत्मानुशासन की गंध कहां है ?

आत्मानुशासन की जन्मभूमि है शिक्षा-संस्थान। वहां राष्ट्र की नयी पौध का निर्माण होता है। उसकी स्थिति भी स्वस्थ नहीं है। वहां विलास, फैशन और स्वच्छन्दता का इतना प्रबल अस्तित्व है कि आत्मानुशासन की एक अस्फुट रेखा भी नहीं दिखाई देती।

धर्म का क्षेत्र आत्मानुशासन का मुख्य क्षेत्र है। स्वार्थों का संघर्ष वहां भी अपनी जड़ें जमा चुका है। इसलिए उसकी तेजस्विता भी संदिग्ध हो चुकी है। एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि एक साधू कहता है, मेरा नाम पहले क्यों नहीं आया ? उसका पहले क्यों आया ? कोई कहता है, प्रमुख मैं हूं, उसे प्रमुखता क्यों दी गई ? इस वातावरण में आत्मानुशासन की गंध ही कहां है ?

यह स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन है। इसके द्रष्टा अनेक लोग हैं। हम द्रष्टा रहकर स्थिति को नहीं बदल सकते। उसमें अपने संयम की आहुति देकर ही बदल सकते हैं। आज यह बहुत अपेक्षित है कि सब लोग आत्मानुशासन का संकल्प लें और जन-जन को यह समझाएं कि स्वतन्त्रता का अर्थ है, आत्मानुशासन का विकास।

व्यवस्था-परिवर्तन और हृदय-परिवर्तन

मनुष्य के विकास और संशोधन की प्रक्रिया हजारों वर्षों से चली आ रही है। मनुष्य आदिकाल में जिस रूप में था वैसा ही रहता तो आज वह जंगली मिलता। मनुष्य ने विकास किया है। बाहरी उपकरणों में विकास किया है और आन्तरिक वृत्तियों में भी। कठिनाई बाहर भी है और भीतर भी है।

मनुष्य में कई मौलिक वृत्तियाँ होती हैं, जैसे—लड़ाकू वृत्ति, अपना स्वार्थ साधने की वृत्ति आदि। वे पहले भी थीं और आज भी हैं। इन वृत्तियों की विद्यमानता में मनुष्य क्रूर और अशिष्ट बनता है। मनोवैज्ञानिक इन वृत्तियों को मूल वृत्ति मानते हैं। प्राचीन आचार्य इन वृत्तियों को राग-द्वेष मानते थे। भाषा का भेद है। भाव की दृष्टि से दोनों एक बिन्दु पर मिल जाते हैं।

मनुष्य इन वृत्तियों से एकदम छुटकारा पा ले ऐसा सम्भव नहीं लगता। यदि इनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न न किया जाए तो वह और अधिक दारुण बन सकता है इसलिए वृत्तियों के परिमार्जन का प्रयत्न अवश्य होना चाहिए। अणुव्रत आन्दोलन उसी शृंखला की एक कड़ी है। मनुष्य धर्म का आचरण हजारों वर्षों से कर रहा है। उसके प्रति उसका आकर्षण भी है, फिर भी व्यक्ति का जीवन जैसा बनना चाहिए वैसा नहीं बना है। इससे लगता है कि कहीं न कहीं पर कोई कमी है।

वर्तमान का धर्म

धर्म में जितनी परलोक की प्रेरणा मान रखी है उतनी वर्तमान की नहीं। परलोक को सुधारने की दृष्टि से धर्म को करने वाले बहुत हैं पर वर्तमान को सुधारने की दृष्टि से धर्म को करने वाले कम हैं। इसीलिए धर्म के द्वारा जितना नैतिक विकास होना चाहिए उतना नहीं हुआ।

जिसके जीवन में धर्म है परन्तु नैतिकता नहीं है तो इसका अर्थ हुआ— उसके जीवन में धर्म नहीं है। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि दीपक है, वह जलता भी है, पर प्रकाश नहीं है। जलन-क्रिया और प्रकाश में विरोधाभास नहीं है। प्रकाश और अन्धकार में विरोध है। धर्म और क्रूरता एक साथ नहीं रह सकते। उस धर्म के साथ क्रूरता टिक सकती है। जो धर्म क्रूरता को पोषण देने वाला होता है।

विसर्जन है ममत्व-त्याग

एक व्यक्ति ने परिग्रह का अल्पीकरण करना चाहा क्योंकि परिग्रह मोक्ष का बाधक है। परिग्रह की सीमा निर्धारित की—‘एक लाख रुपये से ज्यादा नहीं रखूंगा।’ व्यापार में जब धन अधिक बढ़ गया तो उसने उस अतिरिक्त धन को अपने लड़कों के नाम से कर दिया। लेकिन उसका विसर्जन नहीं किया। जब तक विसर्जन नहीं किया जाता, उससे ममत्व नहीं हटता। विसर्जन के बिना संग्रह के प्रति आकर्षण भी कम नहीं होता। जब तक धन कमाने के प्रति आकर्षण बना रहता है तब तक ममत्व की भावना घटती नहीं, बढ़ती है। जहां ममत्व है वहां शोषण आदि वृत्तियां पनपती हैं। शोषण ममत्व-त्याग का सबल शस्त्र है।

यम और नियम

हमारे आचार्यों ने यम और नियम का भेद दिखाते हुए कहा—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पांच यम हैं। ये प्रतिदिन के लिए अनिवार्य होने चाहिए। एक व्यक्ति अपरिग्रही बनता है, फिर वही दो घंटे के बाद परिग्रही बने, यह नहीं हो सकता। एक व्यक्ति परिग्रह को छोड़ साधु बनता है तो क्या वह दो घंटे के बाद लाख रुपया पास में रख लेगा? नहीं। यम जीवन में अनिवार्य रूप से आते हैं। वे यावज्जीवन के लिए होते हैं। उनमें काल की सीमा नहीं होती।

प्रधान है नियम

नियम कादाचित्क होते हैं, आवश्यकता के अनुसार किये जाते हैं। एक व्यक्ति आज उपवास करता है। कल वह नहीं भी करता। पूजा करनेवाला एक घंटे तक पूजा करता है परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता कि चौबीस घंटे पूजा ही करता रहे। नियम देश, काल और मर्यादा-सापेक्ष होते हैं। परन्तु आज विपरीत क्रम हो गया है। नियम प्रधान बन गया है और यम की आवश्यकता भी नहीं रह गई है। नियम के आधार पर चलनेवाला जिस कुल में जन्मता है वैसा ही अपना आचरण बना लेता है। मैंने देखा, दो-चार वर्ष के बच्चे के सिर पर अमुक प्रकार का टीका लगा हुआ था। बच्चा क्या जानता है! माता-पिता ने अपने धर्म का प्रतीक उसको बना दिया। आज धर्म आनुवंशिक रूप में पाला जाता है। धर्म में जो परिवर्तन की क्षमता थी वह आज नहीं है। भगवान् महावीर, बुद्ध और कृष्ण ने क्रान्ति की थी। आज वही परमपरा में परिवर्तित हो गई है।

हृदय-परिवर्तन और व्यवस्था

गुरुदेव ने कहा था—‘साधारण जनता के लिए हृदय-परिवर्तन के साथ व्यवस्था-परिवर्तन भी आवश्यक होता है।’ महायान का प्रवेश होते ही सामूहिकता प्रबल हो गई। ऐतिहासिक दृष्टि से महायान सबसे पहला था जिसने सामूहिकता पर बल दिया। उसके

बाद महाभारत में उसका प्रवेश हुआ। आज बाह्य उपकरणों में सामूहिकता ने विकास किया है। एक समय ऊँट व्यक्तिगत वाहन था। दो-तीन आदमी उस पर बैठ सकते थे। आज वाहन का विकास हुआ है। एक बस में पचासों व्यक्ति एक साथ बैठ सकते हैं। पहले एक आदमी बोलता था, कुछेक व्यक्ति सुन सकते थे। आज बोलने के साधनों में विकास हुआ है। एक व्यक्ति बोलता है, लाखों व्यक्ति सुन सकते हैं। यह बाह्य उपकरणों में सामूहिकता का विकास है।

निमित्त का प्रभाव

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और निमित्त की अनुकूलता न हो तो होनेवाला कार्य रुक जाता है। इनकी अनुकूलता पर कार्य अभिव्यक्त हो जाता है। पावर हाउस से आने वाला विद्युत् प्रवाह बल्ब का निमित्त मिलने से प्रकाश देता है। बल्ब न हो तो वह प्रकाशित नहीं होता। बल्ब निमित्त है परन्तु उसकी भी अपनी उपयोगिता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति में भी शरीर का निमित्त सहयोगी बनता है। व्रतों के लिए भी यही नियम है।

कोई व्यक्ति नैतिक या व्रती बनता है तो उसकी अभिव्यक्ति उसके आचरण से होती है। नैतिकता आचरण से फलित होती है। वैसे मूर्खता भी आचरण से फलित होती है।

एक मूर्ख अपने गांव में रहता था। लोग उसे मूर्ख कहकर बतलाते थे। मूर्ख नाम उसे प्रिय नहीं था इसीलिए वह अपना नाम-परिवर्तन करने के लिए अपना गांव छोड़कर दूसरे गांव चला गया। शहर में पहुंचा। प्यास लगी। सड़क पर नल था। टोंटी खोल पानी पीने लगा। जब तृप्त हो गया तो सिर हिलाया परन्तु टोंटी से अभी भी पानी आ रहा था। पास खड़ी औरतों ने उसके कार्य को देखा। वे कहने लगीं—‘कितना मूर्ख है, नल बन्द नहीं करता।’ उसने सुन लिया। पास जाकर पूछा—‘मेरा नाम तुम लोगों ने कैसे जाना? मैं तो यहां कभी आया ही नहीं।’

बहनों ने हँसते हुए उत्तर दिया—‘तुम्हारी क्रिया से जाना।’

व्यक्ति का आचरण स्वयं प्रकट कर देता है कि वह नैतिक है, या अनैतिक है! व्यक्ति को प्रामाणिक बनाने में व्यवस्था का बहुत बड़ा हाथ रहता है। अणुव्रत के मंच से इस विषय पर चिन्तन हुआ भी है।

आवश्यक है परिस्थिति का निर्माण

समाज के लोगों को प्रामाणिक देखना चाहते हैं तो उन्हें तदनुकूल व्यवस्था भी देनी होगी। विवाह आदि में खर्च पर नियन्त्रण नहीं किया गया तो संग्रह की भावना कैसे मिटेगी?

संग्रह का द्वार जब तक खुला रहेगा तब तक—‘ब्लैक मत करो’, ‘रिश्वत मत लो’, इसका पालन कैसे होगा ? इस चिन्तन के बाद अणुव्रत के अन्तर्गत ‘नया मोड़’ चलाया गया। नये मोड़ से लोगों का दृष्टिकोण बदला है। खर्च की कमी हुई है। साधन-शुद्धि पर भी विश्वास जमा है। कुछ लोगों ने दहेज लेना बन्द कर दिया है, उसका प्रदर्शन भी बन्द कर दिया है। विवाह भी एक दिन में होने लग गया है। जब तक सामाजिक मानदंड में परिवर्तन नहीं किया जाएगा, नैतिकता को विकसित होने में कठिनाई होगी। इसलिए नैतिकता को प्रतिफलित करने के लिए वैसी परिस्थिति का निर्माण करना भी आवश्यक है।

प्रश्न सामाजिक चर्चा का

एक प्रश्न आता है— संत सामाजिक चर्चा में भाग क्यों लेते हैं ?

धर्म और अधर्म की चर्चा का क्षेत्र समाज ही है। समाज को छोड़कर इसकी चर्चा आकाश में नहीं की जाती। धर्म की चर्चा भी समाज में होती है और अधर्म की चर्चा भी समाज में होती है। पुराने आचार्यों ने तात्कालिक सामाजिक बीमारियों पर गहरा प्रहार किया था। भगवान् महावीर ने केवल छुआछूत पर ही प्रहार नहीं किया अपितु हरिजनों को दीक्षित कर उन्हें बराबर स्थान दिया। एक नहीं ऐसे अनेक स्थल हैं, जहां प्राचीन आचार्यों ने समय-समय पर सामाजिक बीमारियों की चिकित्सा की है।

परिस्थिति : परिणाम

कल्पातीत देवलोक में न कोई स्वामी है और न कोई सेवक है। न कोई शासक है और न कोई शासित है। सब अहमिंद्र हैं। न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। ऐसा क्यों हुआ ? इसके पीछे भी परिस्थिति का योग है। वे उपशांत हैं, अल्पक्रोध, अल्पमान, अल्पमाया और अल्पकषाय हैं।

तमिलनाडु में हमने देखा कहीं लू नहीं है जबकि उत्तरप्रदेश में लू से कई आदमी मर जाते हैं।

क्षेत्र, काल और परिस्थिति के प्रभाव से कोई भी नहीं बच सकता। हमारा शरीर भी इसका अपवाद नहीं रह सकता। ऐसे व्यक्ति विरल ही हैं, जो अग्नि में बैठकर भी न जलें।

अणुव्रत ने भी परिस्थितियों की शक्ति पर विचार किया है और उनको परिवर्तित करने के साधनों पर भी सोचा है। सामाजिक जीवन में व्रतों की अनिवार्यता है। अनुशासन के बिना समाज चल नहीं सकता। सड़क पर दस व्यक्ति चल सकते हैं पर बैठ नहीं सकते, क्योंकि उन्हें मर्यादा का बोध है। मर्यादा और अनुशासन का विकास व्रत के रूप में हुआ

है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता जिस दिन पनपी उसी दिन व्रत का विकास हुआ है। व्रतों की भावना को अणुव्रत आन्दोलन ने प्रस्तुत कर एक नया आयाम खोला है। धर्म की रूढ़ भावना बन गई थी उसे नैतिकता की नई दिशा दी है। हर व्यक्ति गहराई से सोचे और अणुव्रत की पृष्ठभूमि में रहे दर्शन को समझे। व्रतों से प्रकाश की रश्मियाँ अवश्य मिलेंगी।



कार्यकर्ता की पहचान

इस दुनिया में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो कार्य न करता हो। प्रत्येक व्यक्तिको कार्य करना होता है। जीवन चलाने के लिए कार्य करना जरूरी है। हम किसी व्यक्ति के संदर्भ में यह नहीं मान सकते कि वह कार्यकर्ता नहीं है।

अपनेपन की सीमा से परे

आज कार्यकर्ता शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। शब्द के अर्थ दो प्रकार के होते हैं— प्रवृत्तिलभ्य अर्थ और व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से देखें तो सब कार्यकर्ता हैं। प्रवृत्तिलभ्य अर्थ की दृष्टि से देखें तो जो दूसरों के लिए करता है, वह कार्यकर्ता है। अपने लिए सब करते हैं, किन्तु सब कार्यकर्ता नहीं कहलाते। जो अपना स्वार्थ छोड़कर दूसरों के लिए खपता है, अपना पसीना बहाता है, वह कार्यकर्ता कहलाता है।

बहुत कठिन है अपने स्वार्थ की सीमा को अतिक्रान्त करना। व्यक्ति अपने स्वार्थ की सीमा में रहता है। वह अपने लिए करता है, अपने घर और अपने परिवार के लिए करता है। जहां अपनापन जुड़ा हुआ है, वहां काम करता है। जब व्यक्ति अपनेपन की सीमा से परे 'पर' के लिए कार्य करता है, तब कार्यकर्ता शब्द जन्म लेता है।

स्वार्थ का अतिक्रमण

कार्यकर्ता की दूसरी पहचान है—स्वार्थ से ऊपर उठना। कार्यकर्ता वह होता है, जो स्वार्थ से ऊपर उठना जानता है। स्वार्थ-त्याग बहुत कठिन साधना है। अनेक लोग बड़े-बड़े पदों पर पहुंच जाते हैं, सत्ता, उद्योग, शासन और प्रशासन के उच्च शिखर को छू लेते हैं, किन्तु वे 'स्व' की सीमा को नहीं तोड़ पाते। बड़ा होना, बड़े पद पर चले जाना एक बात है और स्वार्थ की सीमा को अतिक्रान्त करना बिलकुल दूसरी बात है। प्रशिक्षण के बिना, परमार्थ की चेतना को जगाए बिना स्वार्थ की सीमा का बोध जागृत नहीं हो सकता।

मानव मस्तिष्क में असीम क्षमताएं हैं और उन क्षमताओं के प्रकोष्ठ मस्तिष्क में बने हुए हैं। इस छोटे से मस्तिष्क में इतने प्रकोष्ठ हैं, जिनकी सामान्य आदमी कल्पना नहीं कर सकता। लाखों-करोड़ों प्रकोष्ठ मानव के मस्तिष्क में विद्यमान हैं। जिस मकान

में पांच-दस कमरे होते हैं, उसे बड़ा मकान माना जाता है। जिस मकान में चालीस से अधिक कमरे होते हैं प्राचीन भाषा में सप्त भौम मकान है, उसे विशाल प्रासाद माना जाता है किन्तु हमारे मस्तिष्क में जितने प्रकोष्ठ हैं, उतने किसी मकान में नहीं हैं। बहुत बड़े कॉलेज, सचिवालय और विश्वविद्यालय में भी उतने कमरे नहीं हैं, जितने प्रकोष्ठ मस्तिष्क में हैं।

सोए कोष्ठ जगाएं

लुधियाणा में सी० एम० सी० हॉस्पिटल को देखा। उसमें चार हजार कमरे हैं किन्तु मस्तिष्क के प्रकोष्ठों की तुलना में वह बहुत छोटा पड़ जाता है। हमारे मस्तिष्क में चार हजार नहीं, चार लाख और चार करोड़ नहीं, चार अरब से ज्यादा कमरे बने हुए हैं। प्रत्येक प्रकोष्ठ प्रत्येक प्रवृत्ति के लिए जिम्मेवाद हैं। एक प्रकोष्ठ एक काम करता है और दूसरा कोष्ठ दूसरा काम करता है। ऐसा लगता है— मस्तिष्क में जो स्वार्थ का कोष्ठ बन गया है, खुला हुआ है, चौबीस घंटे खुला रहता है किन्तु परार्थ का कोष्ठ, उससे भी आगे परमार्थ का कोष्ठ है, वह बन्द पड़ा हुआ है। प्रशिक्षण का अर्थ है— मस्तिष्क के उन कोष्ठों और दरवाजों को खोल देना, जो बन्द पड़े हैं। प्रशिक्षण से सोए कोष्ठों को जगाया जा सकता है।

प्रशिक्षण की विधि

प्रशिक्षण की विधि नई नहीं है। प्राचीन युग में इतना सुन्दर प्रशिक्षण होता था, जिसकी सामान्यतः कल्पना नहीं की जा सकती। एक शक्ति है लघिमा। उसका प्रशिक्षण चलता था। जो व्यक्ति इसका प्रशिक्षण ले लेता, वह बहुत विचित्र करतब दिखाने में सक्षम बन जाता। कोशा वेश्या की घटना प्रसिद्ध हैं। स्थूलभद्र बारह वर्ष कोशा के राग रंगों में डूबे रहे और एक दिन मुनि बन गए। सेनापति सुकेतु ने कोशा के सामने अपनी प्रतिभा का बखान किया। कोशा बोली— तुम मेरा चमत्कार देखो। सरसों का ढेर और उस पर सूई रख दी रख कोशा आंगन पर नृत्य करते करते सरसों के ढेर पर नृत्य करने लगी। सरसों का एक भी दाना इधर-उधर नहीं हुआ। सूई जहां की तहां पड़ी रही। क्या यह संभव है? मनुष्य सरसों के ढेर पर जाए तो वह ऐसे ही बिखर जाएगा। तब व्यक्ति सरसों के ढेर पर नाचता रहे, न दाना इधर हो सकता है, न सूई प्रकंपित हो सकती है। व्यक्ति कितना प्रशिक्षण लेता है, तब यह स्थिति बनती है। सामान्य आदमी इस स्थिति की कल्पना भी नहीं कर सकता, इसे सच भी नहीं मान सकता। अनेक लोक इस भाषा में सोच सकते हैं—यह कोरी गप्प है। ऐसा कभी हो नहीं सकता।

संभव है प्रशिक्षण से

यह कोशा की घटना हजारों वर्ष पहले की है, किंतु जो लघिमा का प्रशिक्षण लेता है, वह आज भी ऐसे चमत्कार का प्रदर्शन कर सकता है। महाराजा गंगासिंह जी की

गोल्डन जुबली मनाई जा रही थी। महाराजा के निवेदन पर आचार्यश्री ने उस वर्ष का चातुर्मास बीकानेर किया। उस अवसर पर एक व्यक्ति ने ऐसा ही प्रदर्शन किया। मंच के पास सरसों का ढेर था। वह मंच पर नाचते नाचते सरसों के ढेर पर नाचने लगा। एक भी दाना इधर-उधर नहीं हुआ।

यदि लघिमा सिद्ध हो जाए तो ऐसा क्यों नहीं हो सकता? जैन आगमों में जंघाचारण, विद्याचारण आदि अनेक सिद्धियों का उल्लेख है। गौतम स्वामी के मन में इच्छा जागी— अष्टापद पर जाना है। सूरज की किरणों को पकड़ा और सीधे हिमालय की चोटी पर चढ़ गए। पैरों से चढ़ते तो न जाने कितने दिन लगते। आजकल एवरेस्ट की चोटी पर चढ़ने वाले यात्रियों को कितने दिन लगते हैं? गौतम स्वामी कुछ दिनों में ही नहीं, कुछ मिनटों ही हिमालय के शिखर पर पहुंच गए।

यह संभव होता है प्रशिक्षण के द्वारा। प्रशिक्षण की अनेक विधियां, प्रविधियां हैं। प्रशिक्षण वह है, जो मस्तिष्कीय शक्ति को जगाने का, मस्तिकीय कोषों को खोलने का माध्यम बने। जब तक कार्यकर्ता मस्तिष्क के प्रकोष्ठों को जागृत करने की विधियों प्रविधियों को नहीं जानता, उनका अभ्यास नहीं करता, तब तक बड़ा कार्यकर्ता नहीं बन सकता।

परार्थ की चेतना जागे

महाराष्ट्र के एक कार्यकर्ता है शांतिलाल मूथा। व्यवसायी हैं पर व्यवसाय से ज्यादा दिमाग कार्यकर्ता का है। जैन संघटना का अध्यक्ष है। महाराष्ट्र में भूकंप आया। हजारों बच्चे अनाथ हो गए। ऐसे चौदह सौ बच्चों को पढ़ाने-लिखाने और संस्कारित करने की जम्मेवारी उसने ओढ़ ली। जैन संघटना के इस कार्य की मुख्यमंत्री ने प्रशंसा करते हुए जमीन देने की पेशकश की। समस्या यह थी— इतने बच्चों को कहां रखा जाए। पूना में शांतिलालजी अपना मकान बना रहे थे। उसमें एक बार सारे बच्चों के रहने का प्रबंध कर दिया। परार्थ की चेतना के विकास के बिना व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता।

कार्यकर्ता के प्रशिक्षण का पहला बिन्दु है— स्वार्थ का जो कोष्ठ खुला है, उसे बन्द कर दें। परार्थ और परमार्थ का जो कोष्ठ बन्द पड़ा है, उसे खोल दें।

आज स्वार्थ का दरवाजा इतना चौड़ा हो गया है कि उसे पूरा बन्द करना बहुत मुश्किल है, किन्तु यदि वह दरवाजा थोड़ा संकड़ा हो जाए, परार्थ का दरवाजा कुछ उद्घाटित हो जाए तो कार्यकर्ता यथार्थ में कार्यकर्ता बन जाए। कार्यकर्ता के प्रशिक्षण का उद्देश्य है— परार्थ और परमार्थ की चेतना को जगाना

संवेदनशीलता का विकास

प्रशिक्षण का दूसरा बिन्दु है— संवेदनशीलता का विकास। समाज का अर्थ है—

संवेदनशीलता । यह एक ऐसा धागा है जो समाज को समाज बनाए रखता है, इकाई में बांधे रखता है । दूसरे की कठिनाई को अपना मानना, समस्या और उलझन को अपना मानना । यह कठिनाई पड़ोसी की नहीं, मेरी है, यह समस्या मेरे साधर्मिक की नहीं, मेरी है और मुझे इसका समाधान करना है । यह संवेदनशीलता जाग जाए, समाज के साथ तादात्म्य बन जाए, पृथक्त्व या अलगाव न रहे ।

यदि व्यक्ति यह सोचे— समाज से मुझे क्या लेना देना है ? समाज का काम समाज समाज जाने तो वास्तव में समाज बनता ही नहीं है । समाज के साथ तादात्म्य की अनुभूति से संवेदनशीलता प्रखर बनती है । बहुत लोग प्रार्थना करते हैं, वन्दना करते हैं, किन्तु इष्ट के साथ तादात्म्य कितने लोग स्थापित कर पाते हैं । कुछ लोग ही ऐसे होते हैं, जो इष्ट के साथ तदात्म हो पाते हैं ।

एक पादरी महाप्रभु ईसा का अनन्य भक्त था । कहा जाता है— महाप्रभु ईसा के सूली का दिन आता, वह इतना लीन और तदात्म हो जाता कि उसके हाथ से भी खून बहने लग जाता । ऐसा लगता— जैसे कोई सूई चुभ रही है और खून बह रहा है ।

समाज के साथ इतना तादात्म्य स्थापित कर लेना, दूसरे की कठिनाई को अपना मान लेना, यह है संवेदनशीलता । हमारे मस्तिष्क में दो कोष्ठ हैं— एक कोष्ठ क्रूरता का है और दूसरा कोष्ठ है करुणा का, संवेदनशीलता का । पता नहीं, क्या बात है, प्रकृति का क्या रहस्य है, क्रूरता का कोष्ठ बहुत जगा हुआ है और करुणा तथा संवेदनशीलता का कोष्ठक जगता है । तब व्यक्ति दूसरों की समस्या को समझ लेता है । स्थिति बदल जाती है ।

संवेदनशीलता गांधी की

महात्मा गांधी आसाधारण व्यक्ति थे किन्तु उनका बाह्य परिवेश बहुत साधारण था । धोती भी पूरी नहीं पहनते थे, केवल घुटनों तक पहनते थे । उनके मन में यह बात जग गई— हिन्दुस्तान की आधी आबादी ऐसी है, जिसे पहनने को पूरा कपड़ा नहीं मिलता । मुझे इतना कपड़ा क्यों पहनना चाहिए । कहा जाता है— गांधी जी एक बार दक्षिण भारत में गए । एक छोटे बच्चे ने गांधी जी से कहा— बापू ! आपके पास कपड़े ही नहीं हैं । आप मुझे आज़ा दें, मैं अपनी मां से आपके लिए चोला, धोती— पूरा वेश बनवा दूं ।

गांधी जी बोले— बच्चे ! तुम्हारी भावना अच्छी है, पर मैं तुम्हारा वेश नहीं ले सकता ।

क्यों ?' — बच्चे ने सविनय जिज्ञासा की ।

'क्योंकि तुम्हारी मां मेरे लिए वेश तैयार नहीं कर सकती ।'

'बापू ! आप आज़ा दें, आपके लिए मेरी मां जरूर तैयार कर देगी ।'

'वह नहीं कर सकती ।'

'क्यों नहीं कर सकती ?'

‘मेरे लिए वेश तैयार करे तो तीस करोड़ वेश तैयार करने होंगे । यदि तुम्हारी मां तीस करोड़ व्यक्तियों के लिए वेश तैयार कर दे तो मैं तुम्हारा वेश पहन लूंगा । अन्यथा मैं अकेला तुम्हारा वेश नहीं पहन सकता ।’

जिस व्यक्ति के मन में इतनी संवेदनशीलता जाग जाए, समाज के साथ एकात्मकता और तादात्म्यता स्थापित हो जाए, वही वास्तव में कार्यकर्ता कहलाने का अधिकार पा सकता है ।

सहनशीलता का विकास

प्रशिक्षण का तीसरा बिन्दु है— सहनशीलता का विकास । कार्य-कौशल का बहुत बड़ा अंग है— सहनशीलता । जो व्यक्ति सार्वजनिक क्षेत्र में काम करेगा, उसे बहुत सुनना पड़ेगा । एक गृहस्थ को ही नहीं, साधु को भी सुनना और सहना होता है । साधु भी तो कार्यकर्ता ही है । जिसने अपना स्वार्थ छोड़ा है, दूसरों के कल्याण में रत है, वह साधु भी कार्यकर्ता है ।

तीन निर्देश

महावीर ने मुनि को स्वार्थ की बात नहीं सिखाई । उन्होंने यह नहीं कहा— तुम केवल अपना कल्याण करो । मुनि के लिए महावीर ने कहा— तिन्नाणं तारयाणं— तुम स्वयं तरो पर अकेले नहीं, दूसरों को भी तारो । स्वयं बुद्ध बनो पर अकेले नहीं, दूसरों को भी बोधि दो । स्वयं मुक्त बनो, समस्याओं से मुक्ति पाओ पर अकेले नहीं, दूसरों को भी समस्याओं से मुक्त करो ।

महावीर के ये तीन निर्देश बहुत महत्वपूर्ण हैं—

स्वयं तरो, दूसरों को तारो

स्वयं बुद्ध बनो, दूसरों को बोधि दो ।

स्वयं समस्या से मुक्ति पाओ, दूसरों को समस्याओं से मुक्ति का मार्ग दो ।

संक्रमणशील है जगत्

दुनिया में कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता । हम यह मान लेते हैं— जो हिमालय की गुफा में बैठा है, वह अकेला है, पर वह भी वास्तव में अकेला नहीं है । क्या वह ऑक्सीजन नहीं ले रहा है ? क्या वह प्राणवायु नहीं ले रहा है ? क्या महावीर के विचार उसके मस्तिष्क से नहीं करा रहे हैं ? हमारा जगत् इतना संक्रमणशील है कि कोई अकेला रह नहीं सकता । मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और काय वर्गणा के पुद्गल सारे जगत् में फैलते हैं, सबको प्रभावित करते हैं । प्रशिक्षण का सूत्र यह है— हम सहन करना सीखें । आचार्य भिक्षु ने कितना सहा । उनका सारा जीवन सहिष्णुता का जीवन्त निदर्शन है । वचनों के प्रहार, गालियां, अपमान मुक्के की चोट, सब कुछ सहा । बहुत शांत भाव से

सहा, किसी पर भी आक्रोश नहीं किया। हम आचार्य भिक्षु की बहुत विशेषताएं जानते हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी विशेषता है— सहिष्णुता कहा गया— खमा सूर अरहंता— तीर्थंकर क्षमाशूर होते हैं।

भगवान महावीर ने कितना सहन किया ! आचार्य भिक्षु ने क्या-क्या नहीं सहा।

विरोध श्रद्धा में बदल गया

गुरुदेव दक्षिण की यात्रा पर थे। मार्ग में एक टीचर्सट्रेनिंग कॉलेज के अध्यापक हाथ में काले झंडे लिए खड़े थे। संतों ने पूछा— यहां क्या कर रहे हैं ? अध्यापक बोले— आचार्य तुलसी आ रहे हैं, हिन्दी का प्रचार कर रहे हैं। हम उन्हें काले झण्डे दिखा रहे हैं।

संतों ने कहा— कोई आपत्ति नहीं है। क्या फर्क पड़ता है ? हम काला पीला— सब देखते हैं

‘क्या हम काला झंडा दिखा सकते हैं ?

‘हमें कोई कठिनाई नहीं है।’

अध्यापक यह सुन कर अवाक् रह गए। संत आगे बढ़ गए। कुछ ही देर में आचार्यश्री पधार गए। पता नहीं क्या हुआ काले झंडे गायब हो गए। अध्यापक ने प्रार्थना की— आप हमारे कॉलेज में प्रवचन करें। आचार्यश्री ने कहा— मैं तमिल भाषा नहीं जानता।

‘आप अपनी भाषा में बोलें।’ विरोध का स्वर श्रद्धा में परिणत हो गया।

सहिष्णुता का कवच बनाएं

व्यक्ति सहन करना सीख जाए तो प्रतिकूल स्थितियां अनुकूल बनती चली जाती हैं। थोड़ी-सी समस्या आए, कठिनाई आए और व्यक्ति इस भाषा में बोल जाए— मैं अब काम नहीं करूंगा। मैं ऐसी स्थिति में काम नहीं कर सकता। यह कार्यकर्ता की पहचान नहीं बननी चाहिए। कार्यकर्ता को सहिष्णु बनना चाहिए। वज्रपंजर बनना चाहिए।

मंत्र साधक मंत्र साधना से पहले पंजर की साधना करता है। जो वज्र पंजर या कवच की साधना में सफल नहीं हो सकता। मंत्र साधना में बहुत समस्याएं आती हैं, विघ्न बाधाएं आती हैं। यदि व्यक्ति वज्र पंजर का निर्माण कर लेता है, तो फिर भूत आए, पिशाच या राक्षस आए, कोई भी उसे भेद कर प्रवेश नहीं कर सकता।

कार्यकर्ता के लिए सहिष्णुता का वज्रपंजर बनाना जरूरी है। जब तक कार्यकर्ता सहनशील नहीं होगा, वह धैर्य और शांति का परिचय नहीं दे पाएगा। अनेक व्यक्ति थोड़ी-सी विपरीत स्थिति आते ही अधीर और विचलित हो जाते हैं। व्यक्ति सोचता है— अमुक व्यक्ति ने मेरा अपमान कर दिया, मैं अब सभा में नहीं जाऊंगा, संगोष्ठी में भाग नहीं लूंगा। हम अतीत को देखें। अपमान किसका नहीं हुआ ?

जीतें मधुर वाणी से

श्रीकृष्ण के समय की घटना है। गणतंत्र के सहभागी भोज आदि राजा कृष्ण का अपमान कर देते। एक बार कृष्ण घबरा गए। सोचा— क्या करें? चिन्तन की मुद्रा में उदास बैठे थे। नारद जी आए। पूछा— उदास क्यों हो? कृष्ण ने कहा— सोचता हूँ— इस राजतंत्र के सारे झंझटों को छोड़ दूँ। 'कुकर, भोज आदि परेशान कर देते हैं। मैं काम कैसे करूँ?'

नारदजी बोले — कृष्ण ! तुम ठीक नहीं सोच रहे हो। शत्रु होता है तो कोई शस्त्र चलाकर उसे शान्त कर देते, किन्तु यहां धरेलू मामला है, जो विरोध कर रहे हैं, वे अपने हैं। उन्हें शस्त्र से नहीं, मधुर वाणी से जीतो !

कार्यकर्ता के जीवन में अनेक उतार चढ़ाव आते हैं, तिरस्कार और पुरस्कार के क्षण आते हैं। इन सब को सह लेना ही कार्यकर्ता की कसौटी है। कार्यकर्ता को यह सोचना चाहिए— यह धरेलू मामला है, समाज का प्रश्न है, यहां असहिष्णुता काम नहीं देगी। मधुर और मृदुभाषा से ही इन स्थितियों से बचा जा सकता है। सहिष्णुता का प्रशिक्षण व्यक्ति के चिन्तन को परिष्कार देता है, उसे मृदु और मधुर बनने की अभिप्रेरणा देता है।

प्रशिक्षण का मूल्य

कार्यकर्ता के प्रशिक्षण के लिए इन तीन बिन्दुओं पर ध्यान केन्द्रित करना अपेक्षित है—

१. परार्थ की चेतना का विकास।
२. संवेदनशीलता की चेतना का विकास।
३. सहिष्णुता की चेतना का विकास।

कार्यकर्ता प्रशिक्षण शिविर में इनके प्रकोष्ठों को जागृत करने की विधि समझ पाएं, तो कार्यकर्ता को यह अनुभव होगा— कुछ नया घटित हो रहा है, संवेदनशीलता, करुणा और सहिष्णुता के विकास का पथ प्राप्त हो रहा है। उपलब्धि का यह अवबोध और आत्मतोष ही कार्यकर्ता को सही अर्थ में कार्यकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित कर सकता है। कार्यकर्ता प्रशिक्षण क्यों? इस प्रश्न का उत्तर प्रशिक्षण की इस साधना में छिपा है। हम इसका मूल्यांकन करें, प्रशिक्षण का मूल्य स्वतः स्पष्ट होता चला जाएगा।

व्यक्तिवाद और समाजवाद

एक बार गुरुदेव श्री तुलसी ने कहा था :“जहां मनुष्य को व्यक्तिवादी होना चाहिए वहां वह समाजवादी है और हां उसे समाजवादी होना चाहिए वहां वह व्यक्तिवादी है । धर्म के क्षेत्र में मनुष्य को व्यक्तिवादी होना चाहिए, आचरण के महायज्ञ में सबसे पहले अपनी आहुति देनी चाहिए । वहां आदमी कहता है— ‘जब सारी दुनिया नहीं सुधरती है तो मैं अकेला कैसे सुधर सकता हूं ! सब सुधरेंगे तो मैं भी सुधर जाऊंगा ।’

धन का संग्रह करते समय वह नहीं सोचता कि बहुत सारी जनता को भरपेट रोटी नहीं मिलती तब मैं इतना संग्रह क्यों करूं ? वह कहता है— ‘अपने-अपने भाग्य की बात है । मैं किस-किस की चिन्ता करूं कि उन्हें रोटी मिली या नहीं मिली ? मुझे धन मिलता है तब मैं क्यों नहीं संग्रह करूं ?’

केवल आंसू ही शेष रहे

सामाजिक जीवन में व्यक्तिवादी मनोवृत्ति के कारण मनुष्य कितना क्रूर हो जाता है, उसे हम एक कहानी द्वारा समझ सकेंगे ।

एक सेठ धन कमाने गया । लम्बी अवधि तक घर नहीं आया । पत्र पर पत्र आते रहे । सेठ उनकी उपेक्षा करता रहा । बारह वर्षों के बाद वह लौट रहा था । बीच में एक धर्मशाला में विश्राम किया । रात हुई, सेठ लेट गया । इतने में रोने की ध्वनि आयी । इधर रात बढ़ रही थी, उधर आवाज बढ़ रही थी । सेठ की नींद भंग हो रही थी । सेठ ने अपना आदमी जांच करने के लिए भेजा । उसने सूचना दी— ‘प्रास के कमरे में एक लड़का ठहरा हुआ है । उसके पेट में पीड़ा हो रही है । वह चिल्ला रहा है ।’ सेठ मौन रहा ।

थोड़ी देर बाद फिर अपने आदमी से कहा— ‘जाओ, उसे समझाओ, वह रोए नहीं, मुझे नींद नहीं आ रही है ।’ आदमी कह आया, पर सेना रुका नहीं, और तेज हो गया । सेठ फुफकार उठा । उसने अपने परिचारकों से कहा— ‘उसे धर्मशाला से निकाल दो ।’ जंगल का न्याय कब नहीं चलता ? परिचारक गए, उस लड़के तथा उसके परिचारक के बिस्तर बाहर फेंक दिये । रात ढल रही थी । घर के भीतर भी लोग ठिठुर रहे थे । बाहर निकलने की कल्पना भी कठिन थी । सेठ आराम से सो गया । प्रातःकाल उठा ।

‘ये कहने से नहीं मानते, कुछ आ बीतती है तब मानते है’— कहते-कहते सेठ ने सुख की साँस ली। उसका गर्व सीमा पार कर गया। वह बोला— ‘पहले शान्त रहता तो क्यों जाना पड़ता?’ परिचारक बोला— ‘शान्त तो वह मरकर ही हुआ है।’

‘क्या मर गया?’

‘जी, मर गया।’

‘कौन था वह?’

‘आप ही जानें।’

सेठ उठा, बाहर आया। उसने परिचारक से पूछा— गांव, नाम और पिता का नाम।’ सुनकर सेठ के प्राण भीतर के भीतर और बाहर के बाहर रह गए। अब वह अपने पुत्र के लिए आँसू ही बहा सकता था।

स्वयं को अच्छा बनाएं

धर्माचरण के लिए मनुष्य को दूसरों की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए। सबको अच्छा बनाकर अच्छा बनने की बात वैसी ही है कि ‘न तो नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी’। हर आदमी अपने को अच्छा बनाने की बात सोचे और वह वैसा बने तो दुनिया अपने आप अच्छी बन जाए।

एक दिन एक राजा के पैर में कांटा चुभ गया। बहुत पीड़ा हुई। उसने सोचा— जैसे मेरे पैर में कांटा चुभा, वैसे औरों को भी चुभता होगा। चिन्तन में डुबकी लगाते-लगाते उसने मन्त्री को बुलाया। वह उपस्थित हुआ। राजा ने कहा, मन्त्री! मेरे आदेश का पालन करो और समूची पृथ्वी में चमड़ा मढ़ा दो, जिससे किसी के पैर में कांटा न चुभे।’ मन्त्री ने मुसकराते हुए कहा— ‘यह असम्भव है, महाराज! सब लोग अपने-अपने पैरों में चमड़ा पहन लें, पृथ्वी अपने आप चमड़ा मढ़ी हो जाएगी।’

गर्मी के दिन थे। दोपहरी की बेला थी। चिलचिलाती धूप थी। सूर्य अग्नि फेंक रहा था। राजा को बाहर जाना पड़ा। उसे बहुत कष्ट हुआ। उसने सोचा। जैसे मुझे धूप में कष्ट हुआ है, वैसे औरों को भी होता होगा। कितना अच्छा हो मैं समूचे आकाश को वस्त्र से आच्छादित कर दूँ। राजा ने मन्त्री का बुलाकर कहा— ‘मेरी आज्ञा का पालन करो और समूचे आकाश में चंदोबा तान दो, जिससे किसी को धूप न लगे।’ मन्त्री ने मुस्कराते हुए कहा— ‘यह असम्भव है, महाराज! सब लोग अपने अपने सिर पर छाता रख लें, चंदोबा अपने आप तन जाएगा।’

चरित्र का विकास वही आदमी कर सकता है, जो—

१. दूसरों के हाथ का खिलौना नहीं बनता।

२. दूसरों के बटखरों से अपने को नहीं तोलता।

३. दूसरों के पैमाने से अपने को नहीं नापता।

अपनी स्वतन्त्र दृष्टि से चरित्र का मूल्य आँककर उसका विकास चाहता है।

स्वार्थ की मर्यादा

एक दूकानदार ग्राहक से ज्यादा दाम लेना चाहता है। इस चाह के पीछे एक संस्कार और मनोवृत्ति है। उसे हम स्व और पर— इन दो शब्दों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। दुकानदार भी आदमी है और ग्राहक भी आदमी है। आदमी की दृष्टि से दोनों समान हैं, पर यह समानता सैद्धान्तिक भूमिका में होती है। व्यवहार की भूमिका में वह स्व और पर की रेखा से विभक्त हो जाती है। आदमी अपनी, अपने परिवार, जाति, समाज या देश की सुविधा को कुचल देता है।

आकर्षण है स्व का

व्यक्ति से परिवार बड़ा है, परिवार से जाति, जाति से समाज और समाज से देश बड़ा है।

स्व जितना छोटा है, उसका उतना ही अधिक आकर्षण है। वह जैस-जैसे व्यापक होता वैसे-वैसे आकर्षण कम होता जाता है। व्यक्ति जितनी अपनी चिन्ता करता है उतनी परिवार की नहीं करता। जितनी परिवार की करता है उतनी जाति की नहीं करता। जाति से समाज की कम और समाज से देश की कम चिन्ता करता है। मनुष्य के मन में स्व और पर का संस्कार रूढ़ नहीं होता तो अनेक बुराइयां पनप ही नहीं पातीं। पर यह भेद स्वाभाविक है। दुनिया बहुत बड़ी है सब लोग सबके निकट नहीं रह सकते। जो जितना सहयोगी होता है, उसके हितों को आदमी उतनी ही प्राथमिकता देता है। इसीलिए दूसरों के हितों की वह चाहे अनचाहे उपेक्षा कर डालता है।

स्व के हितों की प्राथमिकता और दूसरों के हितों को दूसरा स्थान देने की मनोवृत्ति व्यवहार की भूमिका से निष्पन्न होती है, इसलिये हम उसका निर्मूलन नहीं कर सकते किन्तु उनकी सीमारेखा का निर्धारण कर सकते हैं।

इस मनोवृत्ति के निरंकुश विकास से समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है। धर्म के मूल आधार (करुणा) का स्रोत सूख जाता है इसलिये स्वार्थ की सीमा समाजशास्त्रियों तथा धर्माचार्यों दोनों ने निश्चित की है। समाज में विरोधी हितों का संदर्भ होता है। जहां उना सामंजस्य नहीं किया जाता, वहां निम्न प्रकार की प्रवृत्तियां फलित होती हैं :

9. दूसरों के हितों के विघटन से स्वयं के हित का विघटन।

. दूसरों के हित के विघटन से स्वयं के हित का सधना ।

प्रथम प्रवृत्ति मूर्खतापूर्ण और अवांछनीय है । परन्तु दुनिया में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है ।

विघटन की मनोवृत्ति

पुराने जमाने की बात है । एक लोभी और एक ईर्ष्यालु आदमी देवी के मन्दिर गए । दोनों ने भक्ति के साथ देवी की आराधना की । वह प्रसन्न होकर बोली— तुम जो चाहो वह माँग लो । पर एक बात है— जो पहले मांगेगा उससे दूसरे को दूना मिलेगा । दोनों एक-दूसरे से पहले माँगने का आग्रह करने लगे । लोभी दूने धन का लोभ संवरण कैसे कर सकता था ? ईर्ष्यालु इसे कैसे सहन कर लेता कि वह उससे दूना धन पा जाए ? दोनों अपने-अपने स्वभाव पर अड़े रहे । काफी समय बीत गया पर पहले मांगने को कोई तैयार नहीं हुआ । आखिर ईर्ष्यालु उत्तेजित हो उठा । वह बोला— 'माँ, यह बड़ा लोभी है । यह कभी भी मांगने की पहल नहीं करेगा । अब मैं ही पहल करता हूँ ।' देवी ने कहा 'अच्छी बात है । तुम मांगो ।' वह बोला— 'माँ ! मेरी एक आँख फोड़ डालो ।' देवी ने कहा— 'तथास्तु ।' ईर्ष्यालु काना हो गया । अब घबराया । वह बोला— 'माँ, मेरी दोनों आँख मत फोड़ डालना ।' देवी ने कहा— 'मैं अपनी प्रतिज्ञा को कैसे तोड़ सकती हूँ ?' उसने लोभी की दोनों आँखें फोड़ डालीं । वह अन्धा हो गया ।

लोभी को अंधा बनाने के लिए ईर्ष्यालु काना हो गया । यह स्व और पर— दोनों के हितों के विघटन की मनोवृत्ति है । इससे समाज का धरातल नीचा होता है ।

परहित की उपेक्षा : स्वहित का विघटन

सामाजिक हित इतने जुड़े हुए हैं कि बहुत बार मनुष्य दूसरों के हित की उपेक्षा कर अपने हित का विघटन कर लेता है । यह अज्ञानवश होता है पर बहुत बार होता है ।

दो मित्र थे । एक था माली और दूसरा कुम्हार । उनकी मित्रता का आधार स्वार्थों का समझौता था । एक दिन वे दोनों अपने गांव से शहर में जा रहे थे । पास में एक ऊँट था । उस पर माली की सब्जी और कुम्हार के घड़े लदे हुए थे । माली के हाथ में ऊँट की नकेल थी । वह आगे चल रहा था और कुम्हार पीछे चल रहा था । रास्ते में चलते-चलते ऊँट पीछे मुड़कर सब्जी खाने लगा । कुम्हार ने देखा पर कुछ किया नहीं । उसने सोचा— सब्जी खाता है । इसमें मेरा क्या बिगड़ता है । माली ने मुड़कर देखा नहीं । ऊँट बार-बार खाने लगा । घड़ों के चारों ओर सब्जी बंधी हुई थी । सब्जी का भार कम होते ही संतुलन बिगड़ गया । सब घड़े नीचे आकर गिरे और फूट गए ।

माली का हित कुम्हार के हित की रक्षा कर रहा था । कुम्हार ने अपने हित की अपेक्षा करने में माली के हित की उपेक्षा की थी किन्तु उसने जानबूझकर ऐसा नहीं किया ।

वह परिणाम को समझ ही नहीं सका ।

दूसरी प्रवृत्ति मूर्खतपूर्ण नहीं किन्तु अवांछनीय है । इतिहास में ऐसी घटनाएं घटित हुई हैं ।

अधीयताम् : अंधीयताम्

मौर्यकाल में पाटलिपुत्र नगर (वर्तमान पटना) बहुत समृद्ध था । उस समय वहाँ चन्द्रगुप्त का पौत्र और बिन्दुगुप्त का पुत्र सम्राट् अशोक राज कर रहा था । उसके एक पुत्र का नाम कुणाल था । सम्राट् उसकी माँ से बहुत प्यार करता था । कुणाल अभी शिशु था । फिर भी सम्राट् ने उज्जैनी का राज्य दे दिया । कुमार कुणाल को उज्जैनी ले जाया गया । वह वहीं रहने लगा । एक दिन वहाँ से पत्र आया कि राजकुमार अब आठ वर्ष पूरे कर नवें वर्ष में चल रहे हैं । सम्राट् ने उसके उत्तर में पत्र लिखा— ‘अब कुमार को पढ़ाना शुरू किया जाय । मूल शब्दावली थी— ‘कुमार : अधीयताम् ।’

कुणाल की सौतेली माँ सम्राट् के पास बैठी थी । उसने पत्र लिया और उसे पढ़ा । सम्राट् का ध्यान चुराकर उसने एक हलन्त नकार और जोड़ दिया । उससे ‘कुमार अधीयताम्’ का ‘कुमार अन्धीयताम्’ हो गया । सम्राट् के मन में कोई पाप नहीं था । उन्होंने पत्र को फिर पढ़ा नहीं, उसे मुहरबन्द कर दूत को सौंप दिया । उज्जैनी के अधिकारी वर्ग ने पत्र पढ़ा तो सब अवाक् रह गए । राजकुमार ने कहा— “मौर्यवंश में सम्राट् की आज्ञा अनुल्लंघनीय होती है ।” उसने ननु-नच किए बिना लोहे की गरम सलाई मंगा उन्हें आँखों में आँज दिया । राजकुमार अंधा हो गया ।

सम्राट् को जब उसका पता चला , उन्हें बहुत दुःख हुआ । किन्तु अब उनके पास करने के लिए कुछ भी नहीं बचा था । एक अंधा राजकुमार उज्जैनी का शासन नहीं चला सकता, इसलिये सम्राट् ने कुणाल को एक छोटे गांव का शासक नियुक्त कर दिया और उज्जैनी का शासन दूसरे राजकुमार को सौंप दिया ।

मान्य है वही हित

कुणाल की सौतेली मां ने अपना हित साधने के लिए कुणाल के हित का विघटन किया । यह स्वार्थ-साधना का निम्न कोटि का स्तर है, इसलिए वांछनीय नहीं है । सत्ता और अर्थ के क्षेत्र में ऐसी अनेक घटनाएं घटित हुई हैं । असंख्य लोग उससे प्रभावित हुए हैं । भावी पीढ़ी को इस अभिशाप से मुक्त करने के लिये अभी जितना चाहिए उतना प्रयत्न नहीं किया गया । सामाजिक भूमिका में उसी स्वार्थ को मान्यता दी जा सकती है जो दूसरों के हित का विघटन किए बिना स्वयं का हित साधने में प्रवृत्त हो ।

विचार-प्रवाह

इस विश्व में जो है, वह प्रवहमान भी है। केवल स्थायी कुछ नहीं है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं और वे समूचे आकाश-मण्डल में व्याप जाती हैं। हमारी वाणी जल-तरंगवत् भाषात्मक जगत् को प्रकम्पित कर देती है। हमारा मन चिन्तन के पश्चात् अपनी पौद्गलिक आकृतियों का विसर्जन करता है, आकाश उनसे भर जाता है। इस प्रकार हमारा शरीर, वाणी और मन सब प्रवहमान हैं। इसीलिए समरूपता, समप्रयोग और समचिन्तन एक तत्त्वज्ञ के लिए आश्चर्यजनक नहीं होता। यहां मैं समचिन्तन की थोड़ी चर्चा करना चाहता हूं।

तेरापंथ

आचार्य पूज्यपाद ने लिखा—‘महावीर ने तेरह भेदों (पांच महाव्रतों, पांच समितियों और तीन गुणितियों) का अपने ढंग से निरूपण किया।’ आचार्य भिक्षु ने सम्भवतः इस विचार को पढ़ा ही नहीं, फिर भी उन्होने तेरापंथ की व्याख्या में भगवान् के इन्हीं तेरह भेदों को आधार माना।

धर्म और राजनीति

आचार्य भिक्षु ने कहा था—‘धर्म और राजनीति भिन्न है।’ इसी आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने बहुत वर्षों पहले लिखा था—‘राजनीति से धर्म पृथक् है।’ राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने कहा था—‘हम धर्म और राजनीति को मिलाना नहीं चाहते। हमारा यही प्रयत्न है कि इन्हें दूर रखा जाए।’

संदर्भ : अहिंसा

आचार्य भिक्षु ने लिखा—‘भौतिक उपलब्धि अहिंसा का परिणाम नहीं है। उसका परिणाम है आत्म-शुद्धि और मानसिक-शान्ति।’ महात्मा भगवानदीन ने इस विचार को इन शब्दों में व्यक्त किया है—‘यह कहकर मैं हिंसा को बढ़ावा नहीं दे रहा, मैं तो सिर्फ अहिंसा की हद बता रहा हूं। सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—इन सभी धर्मों का मैं पुजारी हूं। इन सब पर अमल भी करता हूं—पर मैं यह मानने को तैयार नहीं कि इन धर्मों की मदद से किसी को स्वराज्य मिल सकता है या कोई आदमी मालदार

हो सकता है, किसी तरह का शारीरिक सुख प्राप्त कर सकता है। इन धर्मों के पालने से तो केवल मानसिक सुख मिल सकता है और जो आत्मा में विश्वास रखते हैं, उनकी आत्मा को सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिए यह समझना कि स्वराज्य हमारे अहिंसा-धर्म का नतीजा है, बहुत बड़ी भूल है।

मैं फिर दोबारा कहता हूँ कि मैं अहिंसा का निरादर नहीं कर रहा। मैं अहिंसा का पुजारी हूँ। मैं तो केवल यह कहना चाहता हूँ कि अहिंसा से जिस कार्य की आशा की जाती है, वह गलत है।

निषेध संकल्प कारण

भारतीय संस्कृति के विकास में संयम और संकल्प का बहुत बड़ा योग रहा है। उनके साथ निषेध का गहरा सम्बन्ध है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन हुआ तब कई चिन्तक व्यक्ति निषेध ही निषेध में बल नहीं देख पाते थे। कुछ लोग प्रतिज्ञा मात्र के प्रति सहमत नहीं थे। किन्तु जब राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने सात निषेध स्वीकृत किए तब लगा कि निषेध-संकल्प का स्वर राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिध्वनित हो रहा है।

अविच्छिन्न विचार

राष्ट्रीय एकता सम्मेलन ने सर्व-संघ के सुझाव पर एक प्रतिज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ करने का अनुरोध किया। उसके अनुसार देश के प्रत्येक वयस्क से निम्न प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर करने को कहा जाएगा—‘भारत का नागरिक होने के नाते मैं सुसंस्कृत समाज के सार्वभौम सिद्धान्तों अर्थात् नागरिकों, दलों, संस्थाओं और संगठनों के बीच उत्पन्न विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से निपटाने के सिद्धान्तों में विश्वास रखता हूँ तथा एकता और देश की अखंडता के सम्मुख आए खतरे को ध्यान में रखते हुए प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं विवादों को, चाहे वे मेरे पड़ोस में हों अथवा देश के किसी और हिस्से में, सुलझाने के लिए हिंसा का सहारा नहीं लूँगा।’

आचार्यश्री तुलसी के धवल-समारोह के प्रथम चरण का आयोजन था। उस अवसर पर तीन प्रतिज्ञाएँ दिलवाई गई थीं। उनमें एक थी—‘मैं साम्प्रदायिक, भाषायी तथा जातीय आधार पर किसी प्रकार की घृणा नहीं फैलाऊँगा।’

देश-काल की विच्छिन्नता में भी विचार किस प्रकार अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित होते हैं, यह सचमुच आश्चर्य का विषय है।

चिरसत्यों की अनुस्यूति

सत्य के दो रूप होते हैं—वस्तु-सत्य और व्यवहार सत्य । व्यवहार सत्य बहुरूपी होता है । वस्तु सत्य का रूप चिर पुराण होता है । वह देशकाल से व्यवच्छिन्न नहीं होता । जो देश-काल से व्यवच्छिन्न नहीं होता वही वस्तु-सत्य होता है । उसी के कुछ उदाहरण हैं—

लघिमा सिद्धि

१, योगिक अनुभूति है कि लघिमा सिद्धि को प्राप्त करने वाला योगी जैसे भूमि पर खड़ा रहता है वैसे ही भाले की नोक पर खड़ा रह सकता है । भूमि और भाले की नोक में तभी अन्तर होता है, जब भार होता है । योगी प्राण-विजय द्वारा भार-मुक्त हो जाता है । अतः उसके लिए भूमि और भाले की नोक में कोई अन्तर नहीं होता ।

कोशा वेश्या सरसों की राशि पर नृत्य करती और वह राशि अस्त-व्यस्त नहीं होती थी । भार-मुक्ति का यह विचित्र प्रयोग था । भूमि के वातावरण में भार-मुक्ति साधना-लभ्य होती है । अंतरिक्ष में वह सहज ही प्राप्त हो जाती है । रूसी वैज्ञानिक जियोलकोव्स्की के शब्दों में—“अन्तरिक्ष में कोई भी वस्तु दबाव नहीं डालती । यदि मैं पृथ्वी पर सूई की नोक पर खड़ा हो जाऊँ तो मेरा पैर सूई के अन्दर घुस जाएगा । लेकिन यदि ऐसा अंतरिक्ष में हो तो मेरा पैर सूई पर इस तरह खड़ा रहेगा, मानो मैं पृथ्वी पर खड़ा हूँ ।”

समय की गति

२. भगवान महावीर ने कहा था—‘पृथ्वी के असंख्य योजन की ऊंचाई पर देवों का एक मुहूर्त बीतता है, उतने में यहां हजारों वर्ष बीत जाते हैं ।’ आइन्स्टीन ने इसी सत्य को इन शब्दों में व्यक्त किया है—‘सूरज को भेजी जाने वाली एक घड़ी पृथ्वी की तुलना में धीमी गति से चलेगी ।’ अंतरिक्ष-यात्रा के समय भी यही सत्य उद्भवित हुआ था । डॉ० बारिसल्व्कोसोवस्की ने सोवियत अर्थिक पत्रिका में लिखा था—‘अंतरिक्ष में पृथ्वी की अपेक्षा समय बहुत धीमी गति से बढ़ता है ।’

परमाणुवाद का नियम

३. परमाणुवाद के अनुसार एक आकाश-प्रदेश में एक परमाणु समा सकता है,

वहां अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध भी समा सकता है। रसायनशास्त्र के अनुसार एक तोले बुभुक्षित पारद में सौ तोला स्वर्ण समा सकता है। आकाशवाद की इस रहस्यपूर्ण पद्धति पर एडिंगटन ने इन शब्दों में प्रकाश डाला था—‘मनुष्य-शरीर के सारे खोखले स्थानों को निकाल दिया जाए और शेष प्रोटोनों और इलेक्ट्रॉनों को एक जगह इकट्ठा कर लिया जाए तो छः फुट और ढाई मन का मनुष्य एक छोटे-से बिन्दु का रूप ले लेगा—इतना छोटा बिन्दु कि आप उसे अणुवीक्षण यंत्र से ही देख सकेंगे।’

विश्व के सभी प्रकार के प्राणियों को इस प्रकार बिन्दुओं में बदल दिया जाए तो वे सब-के-सब हमारे पानी पीने के गिलास में समा सकेंगे। एक हाथी पूर्व की ओर मुंह करके खड़ा है और एक हाथी का बच्चा पश्चिम की ओर मुंह करके हाथी की सूंड और दूसरे पैर के बीच में खड़ा है। इस हाथी और उसके बच्चे के शरीर के परमाणुओं को मीजकर एक-दूसरे में मिला दें तो केवल इतना द्रव्य रहेगा, जो एक सूई के छेद से निकाला जा सके। सभी पदार्थों के अवयवों का यही हाल है। यदि समूचे संसार के पादर्थों को मीजकर हम इन अणु-परमाणुओं को एक-दूसरे में मिला दें तो हमें एक छोटी नारंगी के बराबर की चीज़ मिलेगी।

मनुष्य जो भी रहस्य है

भगवान महावीर ने जब यह कहा कि 'जो एक को जानता है वही सबको जानता है । सबको वही जान सकता है, जो एक को जानता है ।' तब उनके सामने अनेकान्त दृष्टि से सबको एक सूत्र में बाँधने की बृहद् योजना उपस्थित थी ।

विश्व के सब पदार्थ सापेक्ष हैं । इसलिए समग्र दृष्टि से एक को जानने के लिए सबको जानना आवश्यक होता है । हम किसी भी एक तथ्य को इसीलिए पूर्णतः नहीं जानते कि हम सब पदार्थों के सब पर्यायों को पूर्णतः नहीं जानते । पदार्थ अपने आप में स्पष्ट हो । उसकी स्पष्टता और अस्पष्टता का विभाग हमारे ज्ञान-शक्ति पर अवलम्बित है । जहाँ हमारा ज्ञान नहीं पहुँच पाता, वहीं हमारे लिए रहस्य है । ज्ञात की अपेक्षा अज्ञात अधिक है । प्रगट की अपेक्षा रहस्य अधिक है । हम थोड़े पर्यायों को जानते हैं और ज्ञात पर्यायों के परिपार्श्व में ही हमारी सबकी रेखाएं निर्मित होती हैं । अज्ञात जब ज्ञात होता है तब सत्य नहीं बदलता, पर हमारी सत्य की भाषा बदल जाती है ।

रहस्य है मनुष्य

आश्चर्य यह है कि रहस्यों का उद्घाटन करने वाला मनुष्य है, जो स्वयं आज भी रहस्य बना हुआ है । उसका चैतन्य रहस्य है । उसका अतीत रहस्य है और उसका भविष्य है और उसकी विविधता रहस्य है । भौतिक विज्ञान ने दृश्य उपकरणों के आधार पर मनुष्य के रहस्यों को खोलने का यत्न किया है और जैन-दर्शन ने मनुष्य के पौद्गलिक सम्पर्कों के द्वारा उसके रहस्य का उद्घाटन किया है । कर्मवाद मनुष्यों के परिवर्तनों और बहुरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण है ।

आत्मा अरूप है इसलिए वह अव्यक्त है । उसकी अभिव्यक्ति परमाणुओं से होती है । अव्यक्त और व्यक्त जगत् के मध्य की कड़ी कर्म-परमाणु है । उनके द्वारा शरीर-रचना होती है । जो व्यक्त जगत् है, वह जीव शरीर या जीवमुक्त शरीर ही है । जो परमाणु जीव-शरीर में परणित नहीं होते, वे स्थूल नहीं बनते ।

शरीर विज्ञान की दृष्टि

शरीर विज्ञान की दृष्टि से स्त्री में पुरुष के तत्त्वांश और पुरुष में स्त्री के तत्त्वांश होते हैं । उस स्त्री का पुरुष में और उस पुरुष का स्त्री में परिवर्तन हो जाता है । कर्मवाद

के अनुसार मनुष्य में तीन वेद होते हैं—स्त्री, पुरुष और नंपुसक। एक वेद व्यक्त होता है और दो वेद अव्यक्त। वेद का सम्बन्ध कर्म-परमाणुओं से है और अभिव्यक्ति का प्रश्न बाह्य परिस्थितियों से। बाह्य परिस्थिति यदि दूसरे वेद के अनुकूल अधिक होती है तो पूर्ववर्ती वेद दूसरे वेद में विलीन हो जाता है। एक ही जीवन में तीनों वेद एक एक कर अभिव्यक्त हो सकते हैं।

जाति-परिवर्तन की मीमांसा में उरार्वम ने बताया है कि विभिन्न जातियों में, उनके शरीरों की बनावट और अंगों के क्रम में अद्भुत समानता दिखाई देती है। ज्ञान-इन्द्रियां, कर्म-इन्द्रियां, भेदरिक्त नालियां, तन्तु-जाल आदि की स्थिति से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी ये जातियां बहुत निकट थीं। यह प्रश्न भी उनके सामने रहा है कि चिह्नों की यह विभिन्नता कैसे उत्पन्न होती है ?

विभिन्नता का हेतु

कर्मवाद के आधार पर भी इस प्रश्न पर विचार किया गया है। वह कोरा दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है। अनेक तथ्यों का संकलन करने के पश्चात् उसके निष्कर्ष पुष्ट हुए हैं, इसलिए यह वैज्ञानिक पद्धति है। विभिन्नता का हेतु कर्म-परमाणु और बाहरी वातावरण दोनों है। कर्म-परमाणुओं से प्राणी का किसी प्रमुख जाति में जन्म होता है और उसके अनुकूल ज्ञान-इन्द्रियां, कर्म-इन्द्रियां विकसित होती हैं। शरीर की रचना, रूप, रंग आदि में जो विविधता आती है, उसमें कर्म-परमाणुओं की अपेक्षा बाह्य परिस्थिति का कर्तृत्व प्रधान है। उदाहरण के लिए हम मनुष्य-जाति को लेते हैं। मनुष्य-जाति एक है। पाँच इन्द्रिय, कर्म, त्रैकालिक, दीर्घकालिक संज्ञान—सब मनुष्यों में होता है पर उनकी आकृति-रचना और बाहरी अभिव्यक्ति में बहुत बड़ा अन्तर होता है।

विचित्र शरीर रचना

भौगोलिक कारणों से मनुष्य में जो अन्तर होता है, उसकी जैन साहित्य ने एक तालिका प्रस्तुत की है।

उसके अनुसार पूर्व दिशा में एक जाँघ वाले, पश्चिम में पूँछवाले, उत्तर में गूंगे, दक्षिण में सींगवाले मनुष्य हैं। विदिशाओं में खरगोश के कान सरीखे कान वाले, लम्बे कान वाले और बहुत चौड़े कान वाले मनुष्य हैं।

अन्तराल में अश्व, सिंह, कुत्ता, सूअर, व्याघ्र, उल्लू और बन्दर के मुख जैसे मुखवाले मनुष्य हैं।

शिखरी पर्वत के दोनों अन्तरालों में मेघ और बिजली के समान मुख वाले, हिमवान् के दोनों अन्तरालों में मत्स्य और काल की मुखाकृतिवाले उत्तर, विजयार्थ के दोनों अन्तों में हस्तिमुख और आदर्श मुखवाले तथा दक्षिण विजयार्थ के दोनों अन्तों में गोमुख और मेषमुख की आकृति वाले मनुष्य हैं।

अपूर्ण है वैज्ञानिक प्रगति

एक जांघ वाले मनुष्य गुफाओं में रहते हैं और मिट्टी का आहार करते हैं। शेष सब वृक्षों पर रहते हैं और पुष्प-फल आदि का आहार करते हैं। ये अन्तर-द्वीपों में रहनेवाले मनुष्य हैं। जितनी विभिन्नता क्षेत्रकृत है, उससे कम कालकृत कैसे होगी ; हमारी यह कल्पना कि मनुष्य सदा एक जैसी आकृति, लम्बाई, चौड़ाई, संस्थान संहनन वाला रहा है, यह कोरी कल्पना ही है। वास्तविकता तो यह है कि उसमें जितना परिवर्तन हुआ है, उसकी कल्पना आज हमें नहीं है। मनुष्य से श्रेष्ठ कोई प्राणी है—यह विज्ञान के लिए प्रश्न ही है। किन्तु हमारी दुनिया भी ऐसे वातावरणों से घिरी हुई है कि इससे आगे जो असंख्य दुनिया हैं उनकी और उनके प्राणियों की तथा अपने विद्याओं के मनुष्यों की सही स्थिति को जानने के लिए आज भी हमारी वैज्ञानिक प्रगति अपूर्ण है। इसलिए मनुष्य जो सब रहस्यों को खोलने के लिए गतिशील हो रहा है, वह स्वयं भी एक रहस्य है।

साधना का अर्थ

साधना का अर्थ है—स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया । साधना से पूर्व जो स्वभाव है उसमें यदि परिवर्तन न आए तो समझिए साधना का कोई फल नहीं हुआ । साधना से पूर्व साधक का दृढ़ विश्वास होना चाहिए कि साधना से स्वभाव बदला जा सकता है । स्वभाव कहने व सुनने की अपेक्षा अभ्यास से अधिक बदलता है । सबसे पहले क्रोध-नियन्त्रण का अभ्यास आवश्यक है, क्योंकि सामूहिक जीवन में उसका अधिक प्रसंग आता है ।

प्रक्रिया

कुछ प्रश्न प्रस्तुत किए जाते हैं । साधक उन प्रश्नों का उत्तर 'हां' या 'ना' में अपने-आप से ले ।

१. क्रोध आता है या नहीं ?
२. तीव्र आता या मन्द ?
३. अपने भीतर एक ही सीमित रहता है या गाली के रूप में तथा हाथ-पैर चलाने के रूप में बाहर आ जाता है ?
४. प्रतिदिन आता है या कभी-कभी, पाँच-दस दिन में ?
५. एक दिन में एक बार या अनेक बार ?
६. तत्काल शान्त हो जाता है या गाँठ बनकर लम्बे समय टिकता है ?
७. मैंने कभी सोचा या नहीं कि क्रोध का परिणाम अन्ततः बुरा ही होता है ?
८. क्षमा या मानसिक संतुलन व्यक्ति के लिए संभव है या नहीं ?
९. यदि संभव है तो उसके लिए प्रयत्न और अभ्यास किया या नहीं ?
- १० प्रयत्न करने पर लक्ष्य तक पहुंच पाया हूँ या नहीं ? कहां तक पहुंचा हूँ ?
पहुंच की कुछ क्रमिक रेखाएं ये हैं :
(क) प्रतिकूल कहे तो क्रोध नहीं आता ।
(ख) दूर का आदमी कहे तो क्रोध नहीं आता ।
(ग) घर का या निकट का आदमी कहे तो क्रोध नहीं आता ।
(घ) अमुक-अमुक स्थिति में क्रोध नहीं आता ।

व्यक्ति का धर्म

कई बार यह अनुभव ही नहीं किया जाता कि गाली का प्रत्युत्तर बिना गाली के दिया जा सकता है। “क्या मैं कमजोर हूँ, जो गाली को सहन करूँ—यह धारणा है तब तक क्रोध को बुरा नहीं माना जाता। बुरे के प्रति बुरा नहीं होना चाहिए। सौदा भी नहीं करना है कि अमुक अच्छा व्यवहार करे तो उसके साथ अच्छा व्यवहार करूँ। उसे सोचना चाहिए, मैं अच्छा व्यवहार करूँ, यह मेरा धर्म है। प्रेम से जितना अच्छा होता है उतना क्रोध से नहीं होता। क्रोध का प्रत्युत्तर क्रोध से नहीं, प्रेम-व्यवहार से होना चाहिए।

क्रोध का स्वभाव मिटाने के लिए सब जीवों के प्रति प्रेम का व्यवहार करें। मित्रता का विकास करें। सबको मित्र मानने से भय नहीं रहता। क्योंकि भय शत्रु से होता है, शत्रु रहेगा ही नहीं तब भय किसका? अधिकांश भय अपने मानसिक विकल्पों से पैदा होते हैं। मन में किसी के प्रति ग्लानि व शत्रुता का भाव न रहे तब प्रसन्नता झलकती है, मन हल्का रहता है। ग्लानि से मन भारी बन जाता है, प्रसन्नता समाप्त हो जाती है।

नैतिक शिक्षा का उद्देश्य

पहले जानो, फिर करो—भारतीय चिन्तन का यह चिरन्तन निष्कर्ष है। करने के बाद जानने का द्वार बन्द नहीं होता। फिर जानो, फिर करो— यह द्वार सदा खुला रहता है। जानो-करो, फिर जानो, फिर करो—इस मार्ग पर चलकर ही मनुष्य विकास की मेखला तक पहुँचा है।

जो विषय हमें ज्ञात नहीं होता, उसके आचरण में हमारा आकर्षण भी नहीं होता। जो आदमी आम के स्वाद को नहीं जानता, वह उसे खाने को कभी नहीं ललचाता। एक आदमी ने बादाम और चिलगोज़ नहीं देखे थे। वे छीलकर दूध पर डाले हुए थे। उसने लटें समझ कर दूध नहीं पिया। उसके अज्ञान ने ही उसे दूध नहीं पीने दिया।

शिक्षा का उद्देश्य

अज्ञान सबसे बड़ी बुराई है। क्रोध करना बुरा है। क्या उसके मूल में अज्ञान नहीं है? यदि क्रोध के परिणामों का सही-सही ज्ञान हो तो आदमी क्रोध नहीं कर सकता।

यथार्थ को जानना बुराई को चुनौती दे डालना है। ज्ञान को पुष्ट करना बुराई के मूल को उखड़ डालना है। शिक्षा का स्वयम्भू उद्देश्य है अज्ञात को ज्ञात करना। हेय का वर्जन और उपादेय का आचरण—ये दोनों कार्य ज्ञान के उत्तरकाल में होते हैं। जिसे नैतिक और अनैतिक व्यवहार व उसके परिणामों का ज्ञान नहीं होता, वह किस आधार पर यह निर्णय करेगा कि उसे नैतिक व्यवहार करना चाहिए और अनैतिक व्यवहार नहीं करना चाहिए।

नैतिक शिक्षा क्यों ?

नैतिकता का ज्ञान होने पर सब आदमी नैतिक बन जाते हैं, यह अनिवार्यता नहीं है। किन्तु इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि नैतिकता का ज्ञान होने पर लोग नैतिक बन सकते हैं। नैतिक शिक्षा का यही प्रबल आधार है।

कुछ शिक्षाविद् नैतिक शिक्षा को आवश्यक नहीं मानते। उनके मतानुसार नैतिकता सामाजिक व्यवहार से फलित होती है। अभिभावक और अध्यापक जैसा आचरण करते हैं वैसा ही आचरण करने की प्रेरणा विद्यार्थी को मिलती है। विद्यार्थी को शिक्षा एक प्रकार की मिलेगी और व्यवहार दूसरी प्रकार का मिलेगा, इससे उनके मन पर विरोधी प्रतिक्रिया

प्रतिबिम्बित होगी। वे इस कठिनाई के धाग में उलझ जाएंगे कि वे क्या करें, जो उन्हें पढ़ाया जाता है वह करें या जो उनके पूर्वज कर रहे हैं, वह करें ?

शिक्षा और व्यवहार की विसंगति

भौतिक शिक्षा और उसके व्यवहार में कोई विसंगति नहीं है। नैतिक शिक्षा और व्यवहार में विसंगति है। कथनी और करनी का द्वैध मनुष्य की अपनी विशेषता है। मनुष्य के सिवाय अन्य किसी भी प्राणी में इतना ज्ञान विकसित नहीं है। शेष प्राणी कुछ प्रवृत्तियाँ करते हैं, किन्तु कहना नहीं जानते—दूसरों को विश्वास में लेना नहीं जानते। वे जो कुछ करते हैं, स्पष्ट करते हैं, छिपाना नहीं जानते। मनुष्य जो सोचता है उससे भिन्न कहता है और जो कहता है उससे भिन्न करता है। यह चिन्तन, वचन और कर्म का विरोध ही शिक्षा और व्यवहार की विसंगति का हेतु बनता है।

नैतिक शिक्षा का सूत्र

नैतिक शिक्षा का सूत्र है—जो मन में हो, वही कहो और जो कहो, वही करो। कथनी और करनी की समानता और ऋजुता से नैतिक व्यवहार फलित होते हैं। किन्तु हमारे सामाजिक और राजकीय नियम कथनी-करनी के द्वैध और प्रवंचना को जितना प्रोत्साहन देते हैं उतना कथनी-करनी की समानता और ऋजुता को नहीं देते। कानून की अपनी कठिनाई है कि वह वास्तविकता को नहीं देखता, साक्ष्य को देखता है। साक्ष्य का संग्रह जितना प्रवंचना से होता है, उतना सचाई से नहीं होता। इसलिए बहुत बार प्रवंचना की जीत होती है, सचाई प्रताड़ित होती है। धन का प्रवाह जितना प्रवंचना की ओर प्रवहमान है उतना सचाई की ओर नहीं है। अधिकांश लोग प्रवंचना के द्वारा लाभान्वित होते हैं तब नैतिकता के नाम पर कुछ धर्मभीरु लोगों को भौतिकता के प्रत्यक्ष लाभ से क्यों वंचित रखा जाए ?

विद्यालय का कार्य

जिस अभिमत की मैंने चर्चा की है उसमें तथ्य नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु वे इतने बलवान भी नहीं हैं, जो नैतिक शिक्षा के आधार को हिला सकें। यह हम स्वीकार कर सकते हैं कि समाज में अनेक बुराइयाँ हैं। अनीति को नीति की अपेक्षा अधिक प्रोत्साहन मिल रहा है। फिर भी समाज मात्र बुराइयों का पुलिन्दा नहीं है। यदि ऐसा होता तो नैतिक विमर्श की कोई अपेक्षा ही नहीं रहती।

समाज में बहुत अच्छाइयाँ भी हैं। जो अच्छाइयाँ हैं, वे ज्ञान और संस्कार से फलित हैं। जो बुराइयाँ हैं वे अज्ञान और संस्कारहीनता के कारण हैं। विद्यार्थी के अज्ञान को दूर करना, उसे अनैतिकता और नैतिकता के स्वरूप और परिणामों से परिचित करना, यह विद्यालय का काम है।

नैतिक बनने की प्रक्रिया

विद्यार्थी को अनैतिक धारणाओं से बचाना, उसमें नैतिकता के प्रति आकर्षण पैदा करना व नैतिकता के ज्ञान को संस्कार में बदलना संस्कार केन्द्र का काम है। इच्छा पर बुद्धि का नियंत्रण स्थापित किए बिना आदमी नैतिक नहीं बन सकता। कुछ लोग बुराई इसलिए करते हैं कि उन्हें बुराई के परिणामों का ज्ञान नहीं है। कुछ लोग बुराई के परिणामों को जानते हुए भी बुराई करते हैं। उसका कारण यह है कि उनकी इच्छा पर बुद्धि का नियंत्रण नहीं है। बुराई को छोड़ने की पूर्ण प्रक्रिया यह है कि पहले बुराई के स्वरूप को, उसके परिणामों को जाना जाए, फिर अभ्यास के द्वारा इच्छा पर या इन्द्रिय और मन पर बुद्धि का नियंत्रण स्थापित किया जाए। यह असंभव प्रक्रिया नहीं है। मनुष्य ने अच्छाई की जितनी मात्रा प्राप्त की है, वह इसी प्रक्रिया से की है।

कला और कलाकार

बहुत अच्छा होता मैं कलाकार होता और कला पर प्रकाश डालता । पर मैं कलाकार नहीं हूँ, साधक हूँ । साधक भी संयम का हूँ, कला का नहीं । मैं व्यापक दृष्टि से सोचता हूँ, तो पाता हूँ कि जिस व्यक्ति के पास वाणी है, हाथ है, अँगुली है, पैर है, शरीर के अवयव हैं, वह कलाकार है । इस परिभाषा में कौन कलाकार नहीं है ? हर व्यक्ति कलाकार है । मैं भी कलाकार हूँ ।

आत्मख्यापन की प्रवृत्ति

मनुष्य में अभिव्यक्ति या आत्म-ख्यापन की प्रवृत्ति आदिकाल से रही है । वह अव्यक्त से व्यक्त होना चाहता है । वह नहीं होता तो वाणी का विकास नहीं होता । यदि वह नहीं होता तो मनुष्य का चिन्तन वाणी के द्वारा प्रवाहित नहीं होता । अव्यक्त का व्यक्तीकरण और सूक्ष्म का स्थूलीकरण क्या कला नहीं है ?

उपनिषद् के अनुसार सृष्टि का आदि-बीज कला है । ब्रह्म के मन में आया, मैं व्यक्त होऊँ । वह नाम और रूप के माध्यम से व्यक्त हुआ । सृष्टि और क्या है ? नाम और रूप की ही तो सृष्टि है । जिसमें अभिव्यक्ति का भाव हो और जो उसे व्यक्त करना जानता हो, वही कलाकार है ।

विकास का लक्षण

कलाकार पहले रेखाएं खींचता है, फिर परिष्कार करता है । कभी-कभी परिष्कार में मूलरूप ही बदल जाता है । मकान का परिष्कार होता है । परिष्कार विकास का लक्षण है ।

कला में हाथ, अँगुली, पैर, इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग होता है । भगवान् ने हमें पाठ दिया कि हाथ का संयम करो । पैर का संयम करो । वाणी का संयम करो । इन्द्रियों का संयम करो ।

कला का सूत्र है, आँख खोलकर देखो । संयम का मूल सूत्र है, आँख मूँदकर देखो । कला की पृष्ठभूमि में अभिव्यक्ति है । संयम अनभिव्यक्ति की ओर प्रेरित करता है । दोनों में सामंजस्य प्रतीत नहीं होता । हर वस्तु में विरोधी युगल होते हैं । एक परमाणु में भी विरोधी युगल हैं । जिसमें ये नहीं होते, उसका अस्तित्व नहीं होता ।

कला का अर्थ

कला और संयम में भी सामंजस्य है। कला का अर्थ है सामंजस्यपूर्ण प्रवृत्ति। मुझे स्याद्वाद की दृष्टि प्राप्त हुई है। मैं सापेक्षदृष्टि से देखता हूँ कि कला का विकास सामंजस्य से हुआ है। सत्य कला से विराट् है। सत्य के साथ कला का योग होने से जीवन विकासशील बन जाता है। अगरबत्ती को अग्नि मिलने से सुगन्ध फूट पड़ती है। सत्य और सौन्दर्य का योग होने से जीवन का विकास हो जाता है। जीवन-विकास और कल्याण में अन्तर नहीं है। कल्याण यानी शिव। हमारा शिव सत्य और सौन्दर्य के बीच होना चाहिए। जीवन की पृष्ठभूमि में शिव और आँखों के सामने सौन्दर्य हो तभी सत्य, शिव, सुंदर की समन्विति हो सकती है।

युवकशक्ति : संगठन

बालक के उपकरण अविकसित होते हैं इसलिए उसमें निहित शक्तियां कार्यकर नहीं होतीं। बूढ़े के उपकरण शिथिल हो जाते हैं इसलिए उसकी शक्तियां कार्यक्षमता को खो बैठती है। युवा के उपकरण पूर्ण विकसित और पूर्ण सक्षम होते हैं इसलिए उसकी कार्यक्षमता असंदिग्ध होती है। युवा की यदि कोई भावात्मक संज्ञा करनी हो तो उसके लिए 'कार्यक्षमता' सर्वाधिक उपयुक्त संज्ञा होगी।

शक्ति का प्रतीक

युवक शक्ति का प्रतीक है, यह निर्विवाद सत्य है। शक्ति होना एक बात है और उसका समीचीन उपयोग होना दूसरी बात है। संस्कृत साहित्य में कहा गया है कि शक्ति के दोनों प्रयोग हो सकते हैं—रक्षण और पीड़न। जिस युवक के सामने महान् आदर्श होता है, उसकी शक्ति रक्षण या अहिंसा में लगती है। आदर्शहीन युवक की शक्ति पीड़न में लग जाती है।

इस दुनिया में हर वस्तु अपूर्ण होती है। विश्व का नियम ही ऐसा है कि उसमें किसी भी वस्तु को पूर्णता प्राप्त नहीं है और वह इसलिए नहीं है कि यदि कोई वस्तु पूर्ण होती तो वह दूसरों से निरपेक्ष हो जाती। निरपेक्ष वस्तु का टिक पाना स्वयं उसके लिए भी कठिन होता है और दूसरों के लिए भी कठिन होता है। इसीलिए हर वस्तु अपूर्ण है और अपूर्ण होने के कारण वह दूसरों से सापेक्ष है। यह सापेक्षता ही विभिन्न वस्तुओं में सामंजस्य बनाये हुए हैं—उन्हे एक साथ टिकाये हुए है।

अनुभव की निधि

युवकों को वृद्ध लोगों की अपेक्षा है। वे उनसे निरपेक्ष होकर अपनी शक्ति का उतना और उतने सही ढंग से प्रयोग नहीं कर सकते, जितना कि सापेक्षता की स्थिति में कर सकते हैं।

वृद्ध व्यक्ति के पास अनुभव की निधि होती है। अनुभव और शक्ति का अन्धा-

पंगु जैसा योग होता है। अनुभव देखता है, पर चल नहीं सकता। शक्ति चलती है पर देख नहीं सकती। अनुभव पंगु है, शक्ति अंधी है। यदि ये एक-दूसरे को सहारा दें तो फिर इष्ट दूर नहीं रहता।

युवक न रुकें, न ठिठकें, वे चलें पर उनकी गति के साथ अनुभव की लौ प्रज्वलित रहे, यही वांछनीय है।

पूर्ण और अपूर्ण

आत्मा पूर्ण है पर व्यक्ति पूर्ण नहीं है। वह अपूर्ण है, इसीलिए उसमें लिप्सा है। लिप्सा अपूर्णता का चिह्न है। जिसमें जितनी अपूर्णता होगी, उसमें उतनी ही लिप्सा होगी। मनुष्य की अपूर्णता अतृप्ति के द्वारा अभिव्यक्त होती है। उसका शरीर अतृप्त है और मन भी। शारीरिक तृप्ति के लिए मनुष्य पदार्थ पाने की इच्छा करता है और मन की तृप्ति के लिए वह उसे भी पाना चाहता है, जो पदार्थ नहीं है। यश कोई पदार्थ नहीं है। पद भी पदार्थ नहीं है। किन्तु मनुष्य में यशेलिप्सा भी है और पद-लिप्सा भी है। यश से मनुष्य को कुछ भी नहीं मिलता पर तृप्ति ऐसी मिलती है, जैसी सम्भवतः और किसी से नहीं मिलती। अधिकारशून्य पद की भी यही दशा है। अधिकारयुक्त पद से कुछ मिलता भी है पर वह नहीं मिलता, जिससे अपूर्णता मिटे।

अपने-आप में सब पूर्ण हैं। कोई उसे पा गया है, कोई प्राप्ति के पथ पर है। किसी की उसमें रुचि नहीं है तो किसी में उसकी समझ नहीं है। पर बहुत सच है कि पदार्थों की संचिति से कोई भी परिपूर्ण नहीं है। एक की पूर्णता दूसरे की पूर्णता के सामने अपूर्णता में परिणत हो जाती है।

पदार्थ अपने-आप में पूर्ण हैं। वे न हमें पूर्ण बनाते हैं और न अपूर्ण। हम उन पर अपने ममत्व का धागा डालकर अपूर्ण बन जाते हैं। पूर्णता का मार्ग यही है कि ममत्व का धागा टूट जाए।

यंत्रवाद की चुनौती

पाताल, पृथ्वी और अन्तरिक्ष—लोक इन तीनों भागों में विभक्त है। इन्हीं को जैन-आगमों में अधोलोक, तिर्यग्-लोक और ऊर्ध्व-लोक कहा है। मनुष्य तिर्यग्-लोक में रहता है। शेष दो लोक उसके लिए सदा जिज्ञासा के विषय रहे हैं। भूगर्भ में वह गया है भूमि को खोदकर और अन्तरिक्ष में वह गया उड़ान भरकर। विमानों का इतिहास बहुत पुराना है। उनमें बैठ अनेक मनुष्यों ने उड़ानें भरी हैं और अनन्त आकाश को देखने का यत्न किया है। किन्तु विमानों के बिना उड़ने का इतिहास भी बहुत पुराना है। जैन-साहित्य के अनेक पृष्ठ इस रहस्यमय विवरण से भरे पड़े हैं।

नभोगति के विविध रूप

चरित्र की विशुद्धि से नभो-गमन की शक्ति विकसित होती है। वह विद्या की आराधना से भी विकसित होती है। औषध-कल्प से भी मनुष्य आकाश में उड़ सकता है। जंघा-चारण सूर्य की रश्मियों का आलम्बन ले आकाश में उड़ सकता है। वह एक उड़ान में लाखों योजनों की दूरी पर चला जाता है। ऊंचाई में वह एक ही उड़ान में हजारों योजन ऊंचा चला जाता है। व्योमचारी मुनि पद्मासन की मुद्रा में बैठे-बैठे ही आकाश में उड़ जाते हैं। जल-चारण मुनि जल के जीवों को कष्ट दिए बिना समुद्र आदि जलाशयों पर चलते हैं। दूसरी प्रकार के जंघा-चारण धरती से चार अंगुल ऊपर पैरों को उठाकर चलते हैं। पुष्प-चारण मुनि वनस्पति को कष्ट दिए बिना फूलों के सहारे चलते हैं। श्रेणी-चारण पर्वत के शिखरों पर चलते हैं। अग्निशिखा-चारण अग्नि की शिखा पर चलते हैं। ये न अग्नि के जीवों को कष्ट पहुंचाते हैं और न स्वयं जलते हैं। धूम-चारण धूम की पंक्ति को पकड़कर उड़ जाते हैं। मर्कटतन्तु-चारण मकड़ी के जाल पर चलते हैं। उसे कोई कष्ट पहुंचाए बिना वे ऐसा करते हैं। ज्योतिरश्मि चारण सूरज, चांद या अन्य किसी ग्रह-नक्षत्र की रश्मियों को पकड़ कर ऊपर चले जाते हैं। वायु-चारण हवा को पकड़ उड़ जाते हैं। जलद-चारण मेघ के, अवश्याय-चारण ओस के सहारे उड़ जाते हैं। इस प्रकार नभोगति की विविध रूप-रेखाएं हैं। भारत के अपने आन्तरिक बल से एक दिन समूचा संसार आश्चर्यचकित हुआ। आज यंत्रवाद फिर अध्यात्म को चुनौती दे रहा है। क्या भारत में उसे झेलने की क्षमता है ?

निर्णय

एक भाई ने पूछा—निर्णायक हम स्वयं हैं, फिर किसी को क्यों मानें ! मैंने कहा—गुरु को इसीलिए मानते हैं कि हम स्वयं निर्णायक हैं । हमें जो अपने से बड़ा लगता है, उसी को हम गुरु मानते हैं, उसे गुरु नहीं मानते, जो हमें अपने से छोटा लगे ।

शब्दों की दुनिया में कहा जाता है—हम आप्त-वाणी को मानते हैं, शास्त्रों को मानते हैं, गुरु को मानते हैं आदि-आदि । पर सचाई यह है कि हम अपने आपको मानते हैं । अपनी बुद्धि को मानते हैं । अपनी रुचि को मानते हैं । संस्कारों को मानते हैं ।

यह जगत् संकुलता से भरा है । शब्द एक है, अर्थ अनेक । एक पाठ के अनेक आचार्यों ने अनेक अर्थ किए हैं । किसे मान्य किया जाए ? इसका निर्णय आगम नहीं करते, हम स्वयं करते हैं । वहां आगम का प्रामाण्य नहीं होता, वहां प्रमाण बनती है हमारी अपनी बुद्धि । गुरु जो व्याख्या देते हैं, उसे भी हम अपने संस्कारों और रुचि के अनुरूप ढालने का यत्न करते हैं । उसमें ढले तो ठीक, नहीं तो उसे हृदय से मान्यता नहीं देते । वाणी किसी सर्वज्ञ की हो या असर्वज्ञ की, सिद्धान्त किसी सर्वज्ञ का हो या असर्वज्ञ का, वह हमारा होकर ही मान्यता प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं । जो बात हमारी समझ में आती है, उसे हम प्रत्यक्ष मान्यता देते हैं और जो बात हमारी समझ में नहीं आती है, उसे हम श्रद्धा से मान्य करते हैं । श्रद्धा और क्या है ? हमारी ही बुद्धि का निर्णय है । हमने मान लिया कि अमुक व्यक्ति की बात मिथ्या नहीं हो सकती, हमारी समझ अधूरी हो सकती है । इसलिए उसकी सब बातें हम मान्य कर लेते हैं भले फिर वे समझ में आए या न आए । श्रद्धा हमारी बुद्धि का स्थित-पक्ष है । इसका अर्थ यह नहीं कि समझ से परे जो भी हो, उसे आंखें मूंदकर मान्य कर लें किन्तु इसका अर्थ यह होना चाहिए कि जो समझ से परे हो वह समझ का विषय बने उतना धैर्य रखें । सत्य-जिज्ञासा की लौ बुझ न पाए, आग्रह का भाव बच न पाए ।

संकुलता

संकुलता से मुक्त कौन है ? और संकुलता कहां नहीं है ? बाजार में चले जाइये । दूकानों की लम्बी पंक्ति है । एक वस्तु की अनेक दूकानें हैं । कहां से क्या लिया जाए, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा ।

राजनीति के क्षेत्र का स्पर्श करिए । अनेक दल हैं । सबके पास खुशहाली के घोषणा-पत्र हैं । किसकी सदस्यता स्वीकार की जाए, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा ।

चिकित्सा का क्षेत्र भी ऐसा ही है । अनेक प्रणालियां हैं । उनके अधिकारियों के पास रोग-मुक्ति का आश्वासन है । किसकी शरण लें, इसका निर्णय व्यक्ति को ही करना होगा ।

ये सब अनेक हैं इसलिए बुद्धि को कष्ट देना पड़ता है । यदि सब एक हो जाएं तो निर्णय करने का प्रयास क्यों करना पड़ता है ?

एक बार भोज ने ऐसा ही सोचा और छहों दर्शनों के प्रमुखों को कारागार में डालकर जेलर को आदेश किया कि उन्हें तब तक भोजन न दिया जाए जब तक वे सब एकमत न हो जाएं ।

यह बात सुराचार्य के कानों तक पहुंची । वे भोज की सभा में गए और गुजरात लौट जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की और साथ ही पूछा— राजन् ! वहां जाने पर मेरे आचार्य धारानगरी के बारे में पूछेंगे । मैं उन्हें प्रामाणिक जानकारी दे सकूंगा यदि आप मुझे सही-सही जानकारी दें ।

राजा भोज ने गर्वोन्नत भाव से कहा—मुनिवर ! मेरी नगरी में चौरासी राजप्रसाद हैं, चौरासी बड़े बाजार हैं । प्रत्येक बाजार में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की चौबीस बड़ी दुकानें हैं ।

सुराचार्य बीच में ही बोल उठे—अलग-अलग दूकानें क्यों ? अच्छा हो, सबको मिलाकर एक कर दिया जाए ।


भोज ने कहा—भला यह कैसे हो सकता है ? आप कल्पना कीजिए, दुकान एक हो तो कितनी भीड़ हो जाए । लोगों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं को कौन कैसे पूरा करे ? आप मुनि हैं, व्यापार की कठिनाइयों को क्या जानें ?

सूराचार्य ने कहा—यही तो मैं कहना चाहता हूँ कि आप शासक हैं, दर्शकों की सूक्ष्मताओं को आप क्या जानें ? जिन दुकानों पर आपका अधिकार है, उन्हें भी आप एक नहीं बना सकते तो भला जन-रुचि के विभिन्न स्रोतों को एक कैसे कर सकोगे ?

राजा चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाए बिना नहीं रह सका । सब दार्शनिक अब अपने-अपने विचार-प्रसार में स्वतंत्र थे ।

आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियाँ

- मन के जीते जीत
- आभा मण्डल
- किसने कहा मन चंचल है
- जैन योग
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- एकला चलो रे
- मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
- अपने घर में
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं हूँ अपने भाग्य का निर्माता
- समस्या को देखना सीखें
- नया मानव : नया विश्व
- भिक्षु विचार दर्शन
- अर्हम्
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- समय के हस्ताक्षर
- आमंत्रण आरोग्य को
- महावीर की साधना का रहस्य
- घट-घट दीप जले
- अहिंसा तत्व दर्शन
- अहिंसा और शान्ति
- कर्मवाद
- संभव है समाधान
- मनन और मूल्यांकन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- शक्ति की साधना
- धर्म के सूत्र
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा
आदि-आदि



समस्याको
देखना सीखें

आचार्य महाप्रज्ञ